MAHIN-402

आदिकालीन और मध्यकालीन काव्य (अ)

MA HINDI

1st Semester

Rajiv Gandhi University
ww.ide.rgu.ac.in

आदिकालीन और मध्यकालीन काव्य (अ)

एम.ए. (हिंदी)

(प्रथम सत्र)

MAHIN-402

RAJIV GANDHI UNIVERSITY

Arunachal Pradesh, INDIA – 791 112

BOARD OF STUDIES	
Prof. Shyam Shankar Singh, (Head) Dept. of Hindi Rajiv Gandhi University	**Chairman**
Prof. Chandan Kumar Dept. of Hindi Delhi University	**Member**
Prof. Dilip Medhi Dept. of Hindi Guwahati University	**Member**
Prof Oken Lego Dept. of Hindi Rajiv Gandhi University	**Member**
Dr. Arun Kumar Pandey Dept. of Hindi Rajiv Gandhi University	**Co-ordinator**

Authors

Vikram Kumar, Dr. Lxmi Pandey, Dr. Pranav Sharma, Geeta Singh, Dr. Geeta Pandey,

Vikas revised edition 2021

All rights reserved. No part of this publication which is material protected by this copyright notice may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafer verted, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the Publisher.

"Formation contained in this book has been published by Vikas Publishing House Pvt. Ltd, and has been obtained by Ra Authors from sources believed to be reliable and are correct to the best of their knowledge. However, DE-Ray Gandhi University, the publishers and its Authors shall be in no event be able for a errors, omissions or damages arising out of use of this information and specifically daclaim any implied warrenty or merchantability or fitness for any particular use"

Vikas® is the registered trademark of Vikas® Publishing House Pvt. Ltd.
Vikas® PUBLISHING HOUSE PVT LTD
E-28, Sector-8, Noida: 201301 (UP)
Phone: 0120-4078900 Fax: 0120-4078999
Regd. Office: 7561 Ravindra Mansion, Ram Nagar, New Delhi - 110055
Website: www.vikaspublishing.com Email: helpline @vikaspublishing.com

विश्वविद्यालय : एक परिचय

राजीव गाँधी विश्वविद्यालय अरुणाचल प्रदेश के प्रमुख (पूर्व में अरुणाचल विश्वविद्यालय) उच्च संस्थानों में से एक है। स्वर्गीय श्रीमती इंदिरा गांधी ने जो तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री व फरवरी 1984 को रोनो हिल्स पर विश्वविद्यालय की नींव रखी थी यही विश्वविद्यालय का वर्तमान कप विद्यमान है। आरंभ से ही राजीव गांधी विश्वविद्यालय श्रेष्ठता हासिल करने और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है जो

आरंभ से ही राजीव गाँधी विश्वविद्यालय श्रेष्ठता हासिल करने और उन लक्ष्यों को प्राप्त करने के लिए प्रयासरत है जो विश्वविद्यालय अधिनियम में निहित है। 28 मार्च 1985 में विश्वविद्यालय को विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा सेक्शन 2 (F) के अंतर्गत अकादमिक मान्यता प्रदान की गई।

26 मार्च, 1994 में विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के सेक्शन 12.V के अंतर्गत इसे वित्तीय मान्यता मिली। तब से, राजीव गांधी विश्वविद्यालय ने देश के (तत्कालीन अरुणाचल विश्वविद्यालय) शैक्षिक परिदृश्य में अपना विशिष्ट स्थान बनाया है। विश्वविद्यालय अनुदान आयोग द्वारा गठित विशेषज्ञों की एक उच्च स्तरीय समिति द्वारा देश के उन विश्वविद्यालयों में राजीव गांधी विश्वविद्यालय को भी चुना गया जिनमें श्रेष्ठता हासिल करने की संभावनाएं व सामर्थ्य है।

9 अप्रैल 2007 से विश्वविद्यालय को मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार की एक अधिसूचना के माध्यम से केंद्रीय विश्वविद्यालय का दर्जा दिया गया।

यह विश्वविद्यालय रोनो हिल्स की चोटी पर 302 एकड़ के विहंगम प्राकृतिक अंचल में स्थित है जहां से दिक्रोंग नदी का अदभुत दृश्य देखने को मिलता है। यह राष्ट्रीय राजमार्ग 52-A से 6.5 कि.मी . और राज्य की राजधानी ईटानगर से 25 किकी दूरी पर स्थित है। दिक्रोंग पुल के द्वारा कैंपस .मी . राष्ट्रीय राजमार्ग से जुड़ा हुआ है।

विश्वविद्यालय के शैक्षिक व शोध कार्यक्रम इस प्रकार तैयार किए गए है कि वे राज्य के सामाजिक, आर्थिक व सांस्कृतिक विकास में सकारात्मक भूमिका निभा सकें। विश्वविद्यालय स्नातक स्नातकोत्तर एमएड का कोर्स भी .कार्यक्रम भी संचालित करता है। शिक्षा विभाग बी .डी .एच .फिल व पी . चलाता है।

इस विश्वविद्यालय से 15 कॉलेज संबद्ध है। विश्वविद्यालय पड़ोसी राज्यों, विशेषकर असम के छात्रों को भी शैक्षिक सुविधाएं प्रदान कर रहा है। इसके विभिन्न विभागों व इससे जुड़े कॉलेजों में छात्रों की संख्या में निरंतर वृद्धि हो रही है।

यूजीसी व अन्य फडिंग एजेंसियों की वित्तीय सहायता से संकाय सदस्य भी शोध गतिविधियों में सक्रिय रूप से भाग ले रहे हैं। आरंभ से ही विभिन्न फडिंग एजेंसियों द्वारा विश्वविद्यालय के विभिन्न शोध प्रस्तावों को स्वीकृत किया गया है। विभिन्न विभागों ने अनेक कार्यशालाओं, संगोष्ठियों व सम्मेलनों का आयोजन भी किया है। अनेक संकाय सदस्यों ने देश व विदेश में आयोजित सम्मेलनों व संगोष्ठियों में भाग लिया है देश विदेश के प्रमुख विद्वानों व विशिष्ट व्यक्तियों ने-1 विश्वविद्यालयों का दौरा किया है और अनेक विषयों पर अपने वक्तव्य भी प्रस्तुत किए है।

2000-2001 का अकादमिक वर्ष विश्वविद्यालय के लिए सुदृढीकरण का वर्ष रहा। वार्षिक परीक्षाओं से सेमेस्टर प्रणाली में परिवर्तन व्यवधानविहीन रहा और परिणामत छात्रों के प्रदर्शन में भी विशेष सुधार देखा गया बोर्ड ऑफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज़ द्वारा बनाए गए विभिन्न पाठ्यक्रमों को लागू किया गया यूजीसी इंफोनेट कार्यक्रम के तहत ERNET इंडिया द्वारा VSAT सुविधा प्रदान की गई ताकि इंटरनेट एक्सेस प्रदान की जा सके।

मूलभूत संरचनागत सीमाओं के बावजूद विश्वविद्यालय अकादमिक श्रेष्ठता बनाए रखने में सफल रहा है। विश्वविद्यालय अकादमिक कैलेंडर का अनुशासित रूप से पालन करता है परीक्षाएं समय पर संचालित की जाती है और परिणाम भी समय पर घोषित होते हैं विश्वविद्यालय के छात्रों को न केवल राज्य व केंद्रीय सरकार में नौकरी के अवसर प्राप्त हुए है बल्कि वे विभिन्न प्रतिष्ठित संस्थाओं उद्योगों व संस्थानों में नौकरी के अवसर प्राप्त करने में सफल रहे हैं। अनेक छात्र NET परीक्षाओं मैं भी सफल हुए हैं। अनेक छात्र | परीक्षाओं में भी सफल हुए हैं NET

आरंभ से अब तक विश्वविद्यालय ने शिक्षण, पाठ्यक्रम में नवीन परिवर्तन लाने व संरचनागत विकास में महत्वपूर्ण प्रगति की है |

आईडीई एक परिचय

हमारे देश में उम शिक्षा प्रणाली को सीमित सीटों सुविधाओं और बुनियादी संसाधनों की कमी के कारण अनेक सामना करना पड़ रहा है। विषयों से जुड़े शिक्षाविद मानते है कि शिक्षा की प्रणाली से अधिक महत्वपूर्ण और जानना है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली इन सभी बुनियादी समस्याओं और समाजिकआर्थिक - बाधाओं को दूर करने का यह प्रणाली ऐसे लाखों लोगों की गुणवत्ता युक्त शिक्षा पाने की मांग की पूर्ति कर रही है जो अपनी रखना चाहते है मगर नियमित रूप महाविद्यालयों में प्रवेश नहीं ले पाते। यह प्रणाली उच्च शिक्षा प्राप्त करने की इच्छा रखने वाले बेरोजगार कार्यरत पुरुष और महिलाओं के लिए भी मददगार सिद्ध होती है। दूरस्थ शिक्षा प्रणाली उन लोगों के लिए भी उपयुक्त माध्यम है जो सामाजिक, आर्थिक अथवा अन्य कारणों से शिक्षा और शिक्षण संस्थानों से दूर हो गए या समय नही निकाल पाये। हमारा मुख्य उद्देश्य उन लोगों को उच्च शिक्षा की सुविधाएं प्रदान करना है जो मान्यता प्राप्त विश्वविद्यालय नियमित तथा व्यावसायिक शैक्षिक पाठ्यक्रमों में प्रवेश नहीं ले पाते विशेषकर अरुणाचल प्रदेश के ग्रामीण व भौगोलिक रूप से दूरदराज स्थित क्षेत्रों में व सामान्यतया उत्तरपूर्वी भारत - के दूरस्थ स्थित क्षेत्रों में रान2008 में दूरस्थ शिक्षा केंद्र का नाम परिवर्तित कर दूरस्थ शिक्षा संस्थान रखा गया दूरस्थ शिक्षार्थियों के लिए शिक्षा के अवसरों का विस्तार करने के प्रयास जारी रखते (आईटीई) हुए आईडीई ने2013-14 के शैक्षणिक सत्र में पांच स्नातकोत्तर विषयों शिक्षा अंग्रेजी), हिंदी, इतिहास और राजनीति विज्ञानको शामिल किया है। (

दूरस्थ शिक्षा संस्थान में विश्वविद्यालय के पुस्तकालय के पास ही शारीरिक विज्ञान संकाय भवन पहली मंजिल का निर्माण किया गया है। विश्वविद्याल)य परिसर राष्ट्रीय राजमार्ग 52 ए के एनईआरआईएसटी बिंदु से 6 किलोमीटर की दूरी पर स्थित है। विश्वविद्यालय की बसें एनईआरआईएसटी के लिए नियमित रूप से चलती रहती है।

दूरस्थ शिक्षा संस्थान की अन्य विशेषताएं

.1 **नियमित माध्यम के समकक्ष**-पात्रता, अर्हताएं, पाठ्यचर्या सामग्री, परीक्षाओं का माध्यम और डिग्री राजीव गांधी विश्वविद्यालय और विश्वविद्यालय के विभागों के समकक्ष हैं।

2. **स्वयं शिक्षण अध्ययन सामग्री** -(**एसआईएसएम)**छात्रों को संस्थान द्वारा तैयार और दूरत्व शिक्षा परिषद नई दिल्ली द्वारा अनुमोदित स्वय (डीईसी)ं शिक्षण अध्ययन सामग्री प्रदान की

जाती है। यह सामग्री प्रदेश के समय आईडीई और अध्ययन केंद्रों में उपलब्ध कराई जाती है। यह सामग्री हिंदी विषय के अलावा सभी विषयों में अंग्रेजी में ही उपलब्ध कराई जाती है।

3. **संपर्क और परामर्श कार्यक्रम** शैक्षिक कार्यक -(**सीसीपी)**ृरम के प्रत्येक पाठ्यक्रम में व्यक्तिगत संपर्क द्वारा लगभग 7-15 दिनों की अवधि का परामर्श शामिल है। बीपाठ्यक्रमों के लिए .ए. के लिए सीसीपी में .ए.सीसीपी अनिवार्य नहीं है। हालांकि व्यावसायिक पाठ्यक्रमों और एम उपस्थिति अनिवार्य होगी।

.4 **फील्ड प्रशिक्षण और प्रोजेक्ट** -व्यावसायिक पाठ्क्रमों में फील्ड प्रशिक्षण और संबंधित विषय में प्रोजेक्ट लेखन का आवश्यक प्रावधान होगा।

5. **परीक्षा एवं निर्देश का माध्यम** -परीक्षा और शिक्षा का माध्यम उन विषयों को छोड़कर जिनमें संबंधित भाषा में लिखने की जरूरत हो, अंग्रेजी होगा।

6. **विषय परामर्श संयोजक** -पाठ्य सामग्री को तैयार करने के लिए आईडीई विश्वविद्यालय के अंदर और बाहर विषय समन्वयकों की नियुक्ति करती है। विश्वविद्यालय द्वारा नियुक्त परामर्श समन्वयक पीसीसीपी के अनुदेशों को प्रभावी रूप से लागू करने के लिए विश्वविद्यालय के विभिन्न विभागों से जुड़े रहते हैं ये परामर्श समन्वयक परामर्श कार्यक्रम के सुचारु रूप से संचालन तथा विद्यार्थियों के एसाइनमेंट्स का मूल्यांकन करने के लिए संबंधित व्यक्तियों से संपर्क कर आवश्यक समन्वय करते हैं। विद्यार्थी भी इन परामर्श समन्वयकों से संपर्क कर अपने विषय से संबंधित परेशानियों और शंकाओं का समाधान प्राप्त कर सकते हैं।

SYLLABI-BOOK MAPPING TABLE

आदिकालीन और मध्यकालीन काव्य (अ)

Syllabi- MAHIN-402(अ)	**Mapping in Book**
इकाई 1 पृथ्वीराज रासो: राजनैतिक यथार्थ; पृथ्वीराज रासो में सामंतवादी परिदृश्य ; पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता; पृथ्वीराज रासो का काव्यशैली और भाषा सौन्दर्य चेतना स्वरुप, युद्ध वर्णन एवं प्रकृति; शशिव्रता विवाह प्रस्ताव की मूल संवेदना एवं पाठांश	**इकाई 1** : चंदवरदायी
इकाई 2 लोक संस्कृति; गीति परंपरा; श्रृंगार और भक्ति; सौंदर्य-चेतना: प्राकृतिक सौंदर्य श्रृंगारिक सौंदर्य, प्रेम संबंधी सौन्दर्य ; तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य	**इकाई 2** : विद्यापति
इकाई 3 सामाजिक चेतना; क्रांतिकारिता; धार्मिक कर्मकांड और कबीर; भक्ति आंदोलन और कबीर; कबीर का काव्य; कबीर की भाषा;	**इकाई 3** : कबीरदास
इकाई 4 सूफी दर्शन और जाएसी-सूफी मत का उद्भव एवं भारत में प्रसार, सूफी मत के प्रमुख सिद्धांत एवं साधना प्रक्रिया, सूफी काव्य की सामान्य विशेषताएं, प्रेमाख्यान परंपरा और जायसी ; प्रेमाख्यानक काव्य-परंपरा प्रारंभ एवं विकास, प्रेमाख्यानक- काव्य की विशेषताएं और जायसी का स्थान; पद्मावत में लोक तत्त्व, पद्मावत की रचना शैली; जायसी की काव्य भाषा; जायसी के प्रमुख पात्र	**इकाई 4** : मलिक मुहम्मद जायसी
इकाई 5 तुलसी की सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टि; भारतीय जीवन को रामचरितमानस की देन; तुलसी के राम; तुलसी की स्त्री संबंधी धारणा; कलिकाल, वर्तमान जीवन यथार्थ और तुलसी; तुलसी की काव्य-शैलियां; तुलसीदास की सौंदर्य दृष्टि; तुलसी की काव्य भाषा, शास्त्रीय ज्ञान परंपरा एवं तुलसी का काव्य; तुलसी के प्रमुख पात्र	**इकाई 5** : तुलसीदास

विषय - सूची

परिचय

इकाई 1 चंदवरदायी

1.0 परिचय

1.1 इकाई के उद्देश्य

1.2 पृथ्वीराज रासो : राजनैतिक यथार्थ

1.3 पृथ्वीराज रासो में सामंतवादी परिदृश

1.4 पृथ्वीराज रासो की प्रामाणिकता

1.5 पृथ्वीराज रासो की काव्य शैली और भाषा

1.6 सौन्दर्य चेतना स्वरूप, युद्ध वर्णन एवं प्रकृति

1.7 शशिव्रता विवाह प्रस्ताव की मूल संवेदना एवं पाठांश

1.8 सारांश

1.9 मुख्य शब्दावली

1.10 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

1.11 अभ्यास हेतु प्रश्न

1.12 आप ये भी पढ़ सकते हैं

इकाई 2 विद्यापति

2.0 परिचय

2.1 इकाई के उद्देश्य

2.2 लोक संस्कृति

2.3 गीति परंपरा

2.4 श्रृंगार और भक्ति

2.4.1 विद्यापति के काव्य में श्रृंगार

2.4.2 विद्यापति के काव्य में भक्ति

2.5 सौंदर्य-चेतना

2.5.1 प्राकृतिक सौंदर्य

2.5.2 श्रृंगारिक सौंदर्य

2.5.3 प्रेम संबंधी सौंदर्य 2.6

2.6 तत्कालीन राजनीतिक परिदृश्य

2.7 पाठांश

2.8 मुख्य शब्दावली

2.9 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

2.10 अभ्यास हेतु प्रश्न

2.11 आप ये भी पढ़ सकते हैं

इकाई 3 कबीरदास

3.0 परिचय

3.1 इकाई के उद्देश्य

3.2 सामाजिक चेतना

3.3 क्रांतिकारिता

3.4 धार्मिक कर्मकांड और कबीर

3.5 भक्ति आंदोलन और कबीर

3.6 कबीर का काव्य

3.7 कबीर की भाषा

3.8 कबीर के दार्शनिक विचार

3.9 पाठांश

3.10 मुख्य शब्दावली

3.11 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

3.12 अभ्यास हेतु प्रश्न

3.13 आप ये भी पढ़ सकते हैं

इकाई 4 मलिक मुहम्मद जायसी

4.0 परिचय

4.1 इकाई के उद्देश्य

4.2 सूफी दर्शन और जायसी

4.3 प्रेमाख्यानक परम्परा और जायसी

4.4 पद्मावत में लोक तत्व

4.5 पद्मावत की रचना-शैली

4.6 जायसी की काव्य भाषा

4.7 जायसी के प्रमुख पात्र

4.8 पाठांश

4.9 मुख्य शब्दावली

4.10 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

4.11 अभ्यास हेतु प्रश्न

4.12 आप ये भी पढ़ सकते हैं

इकाई 5 तुलसीदास

5.0 परिचय

5.1 इकाई के उद्देश्य

5.2 तुलसी की सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टि

5.3 भारतीय जीवन मूल्य और और तुलसी का काव्य

5.4 भारतीय जीवन को रामचरितमानस की देन

5.5 तुलसी के राम

5.6 तुलसी की स्त्री संबंधी धारणा

5.7 कलिकाल, वर्तमान जीवन यथार्थ और तुलसी

5.8 तुलसी की काव्य-शैलियां

5.9 तुलसीदास की सौंदर्य दृष्टि

5.10 तुलसी की काव्य भाषा

5.11 शास्त्रीय ज्ञान परंपरा एवं तुलसी का काव्य

5.12 तुलसी के प्रमुख पात्र

5.13 पाठांश

5.14 सारांश

5.15 मुख्य शब्दावली

5.16 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

5.17 अभ्यास हेतु प्रश्न

5.18 आप ये भी पढ़ सकते हैं

इकाई - 1 चंदवरदाई

1.0 - परिचय

1.1 - इकाई का उद्देश्य

1.2 - रासो काव्य - परंपरा और पृथ्वीराज रासो युगीन यथार्थ और पृथ्वीराज रासो

1.3 - पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता

1.4 - पृथ्वीराज रासो का काव्य - सौष्ठव

1.5 - शाशिव्रता विवाह प्रस्ताव की मूल संवेदना

1.6 - सारांश

1.0 - परिचय

हिंदी के आदिकाल में रासो साहित्य का बड़ा महत्व है। रास काव्य को वीरगाथा काव्य भी कहा गया है। सर्वप्रथम जैन साहित्य में यह परंपरा मिलती है पर वह वीरगाथाओं से भिन्न है। वीरगाथा परक रासो ग्रंथ का व्यापक महत्व है और इनकी विषय वस्तु में राजाओं के चरित और प्रंशसा का भाव मिलता है। रासो काव्यों को देखने से पता लगता है कि उनके रचयिता जिस राजा का वर्णन करते थे। उसके उत्तराधिकारी राजागण अपने आश्रित अन्य कवियों से उसमें अपने रचित भी सम्मिलित भी करा देते थे। राजस्थान के रासो काव्यों के संग्रहकर्ता इनमें कई रचनाओं को अप्रमाणिक मानते हैं क्योंकि उसमें भाषा के अलग अलग रूपों की झलक मिल जाती है। यह हो सकता है कि जो वर्णन बाद में जोड़े गए हों वे मूल रचनाकारों द्वारा न रचे गए हों। किंतु रासो काव्य की रचना नवीं शताब्दी से ही मानी गई है, जिसमें आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने खुमाण रासो को शामिल किया है।

आदिकालीन साहित्य में रासो परंपरा का विशेष महत्त्व है। इसमें पृथ्वीराज रासो का अपना स्थान है। इसके रचयिता चंदवरदाई हिन्दी साहित्य के आदि महाकवि हैं। जिस प्रकार शिवाजी के साथ कविवर भूषण का नाम अनन्तकाल तक जुड़ा रहेगा, उसी प्रकार पृथ्वीराज चैहान के

साथ चंदवरदाई का नाम भी चिरस्थायी रहेगा । प्रामाणिकता की कसौटी पर आलोचक भले ही अनूकूल प्रतिकूल निर्णय दें, लेकिन इतना निश्चित है कि परम्परा एवं जनविश्वास के आधार पर वे पृथ्वीराज चैहान के सभासद एवं श्रेष्ठ कवि माने जाएंगे। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इनका जीवन काल सम्वत् 1225 से सं. 1249 माना है।

1.1 - इकाई का उद्देश्य

इस इकाई में रासों काव्य की परंपरा, पृथ्वीराज रासों की प्रमाणिकता, उसके काव्य सौंदर्य के विविध पक्षों के साथ साथ शाशिव्रता विवाह खंड के बारे में विस्तार से जान पाएंगे । प्रस्तुत इकाई पढ़ने के बाद आप :

- चंदवरदाई के साहित्यिक अवदान के बारे में जान सकेंगे।
- रासो काव्य परंपरा और उसमें पृथ्वीराज रासो का स्थान जान सकेंगे।
- पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता और उसके आधारों का विश्लेषण कार सकेंगे।
- पृथ्वीराज रासो की भाषा से परिचित हो सकेंगे।
- शाशिव्रता विवाह खंड की विषय वस्तु का मूल्यांकन कर सकेंगे।
- रासोकार कवि चंद के काव्य कौशल का विवेचन कर सकेंगे।

1.2 - रासो काव्य - परंपरा और पृथ्वीराज रासो युगीन यथार्थ और पृथ्वीराज रासो

रासो काव्य-परम्परा का अपना एक इतिहास है । बारह सौ ईस्वी के निकटस्थ चार राजपूत राज्य हिन्दी-प्रदेश में वर्तमान थे - कन्नौज में गाहड़वाल वंश या राठौड़ वंश, बुन्देलखण्डमें चंदेल वंश; राजस्थान में चौहान और दिल्ली में तोमर वंश । कन्नौज राज्य के अंतर्गत जयचन्द के दरबार में मधुकर नाम के कवि का होना सुना जाता है जिसकी रचना का नाम 'जयमयंकजसचन्द्रिका' है। यह कृति अभी तक अनुपलब्ध है। इसी प्रकार का नाम दूसरे कवि भट्टकेदार का है जिसकी रचना का नाम 'जयचन्द्रप्रकाश' है। यह कृति भी आज तक अप्राप्य है। बुन्देलखण्ड राज्य से संबंधित ग्रंथ जो आल्हाखण्ड आज मौखिक रुप से सुना जाता है वह किसी अज्ञात रचनाकार द्वारा लिपिबद्ध कराया गया है। राजपूताने के अजमेर राज्य से संबंधित अभी तक दो ग्रन्थ उपलब्ध हुए हैं- पहला दलपति का 'खुमाणरासो' जो अभी तक अप्रकाशित है; दूसरा नरपतिनाल्ह कृत 'वीसलदेवरासो',

जिसका प्रकाशन हो चुका है। दिल्ली राज्य से संबंधित ग्रंथ चंदवरदाई कृत 'पृथ्वीराजरासो' है। यह एक प्रकाशित कृति है। काव्य-रूप की दृष्टि से यह एक प्रबन्ध काव्य है। इन ग्रंथों के सर्वेक्षण से एक बात स्पष्ट हो जाती है कि अधिकांश ग्रन्थों में 'रासो' शब्द नाम के अंत में जुड़ा हुआ है जो 'काव्य' शब्द का पर्यायवाची है। 'रासो' शब्द की व्युत्पत्ति के संबंधमें अब तक कई मत सामने आए हैं। इतिहासकार गार्सा द तासी ने इस शब्द की व्युत्पत्ति 'राजसूय', आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने 'रसायण' और डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने 'रहस्य' से माना है। श्री नरोत्तम स्वामी ने इसकी व्युत्पति 'रसिया' और कुछ अन्य विद्वानों ने 'रासक' से भी माना है।

आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी 'रासक को एक छंद भी मानते हैं और काव्य-भेद भी। ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल की कविता के संबंध में अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग हुआ करता था। ये काव्य चरित्राप्रधान हैं। इन चरित्रों को काव्य में बाँधने के लिए ही इस शब्द का प्रयोग होता रहा है। वस्तुतः रासो काव्य मूलतः रासक छंद का समुच्चय है। अपभ्रंश में उन्नीस मात्रा का एक रासा या रास छंद प्रचलित था। ऐसे अनेक छंदों के गान की परम्परा कदाचित् लोकगीतों में रही होगी। एकरसता न रहे इसलिए बीच-बीच में दूसरे छंद जोड़ने और गाने की प्रथा भी उस समयसे चली होगी। 'संदेशरासक' मुक्तक काव्य इसका एक सुंदर नमूना है। पहले रासो काव्य छंद मेंलिखे गए। कालान्तर में इनमें बदलाव आया होगा जिसके फलस्वरूप गेय छंदों का उपयोग किया जाने लगा।

रास काव्य मूलतः रासक छंद का समुच्चय है। अपभ्रंश में 29 मात्राओं का एक रासा या रास छंद प्रचलित था। विद्वानों ने दो प्रकार के 'रास' काव्यों का उल्लेख किया है- कोमल और उद्धत। प्रेम के कोमल रूप और वीर के उद्धत रुप का सम्मिश्रण पृथ्वीराज रासो में है।

रासो साहित्य मूलतः सामंती-व्यवस्था, प्रकृति और संस्कार से उपजा हुआ साहित्य है जिसका संबंध पश्चिमी हिन्दी-प्रदेश से है। इसे 'देशभाषा काव्य' नाम से भी जाना जाता है। इस साहित्य के रचनाकार हिन्दू राजपूत राजाश्रय में रहने वाले चारण या भाट थे। समाज में उनका स्थान सम्मान का था, क्योंकि उनका जुड़ाव सीधे राजा से होता था। ये चारण या भाट कलापारखी और कला-रचना में निपुण होते थे ये योद्धा भी होते थे जो युद्ध होने पर अपनी सेना की अगुवाई विरुदावली गा-गाकर किया करते थे। ये राजाओं, आश्रयदाताओं, वीर पुरुषों तथा सैनिकों के वीरोचित युद्ध घटनाओं, को केवल बढ़-चढ़ा कर ही नहीं, उसकी यथार्थपरक स्थितियों एवं सन्दर्भों को भी बारीकी के साथ चित्रित करते थे। वीरोचित भावनाओं के वर्णन के लिए इन्होंनं 'रासक या रासो' छंद का प्रयोग किया था। इसलिए इनके द्वारा रचित साहित्य को 'रासो साहित्य' भी कहा गया।

चारण साहित्य की रचना के समय देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक स्थिति अच्छी नहीं थी। पूरा देश कई छोटे-छोटे राज्यों में बँट गया था। प्रत्येक राज्य का राजा अलग होता था। उनमें आये दिन युद्ध हुआ करता था। सभी राजा एक-दूसरे से मेल-जोल रखने के बजाय आपस में लड़ते-भिड़ते रहते थे। राज्य-विस्तार करने के लिए उन्हें युद्ध करना जरूरी था। विदेशी सामंतों के आ जाने से युद्ध का वातावरण और गर्म हो गया। विदेशी सामंतों ने देशी राजाओंमें फूट उालो और राज्य करो की नीति का अनुसरण कि और एक दिन वे पूरेहिन्दू-जाति के शासक बन गए। जिस हिन्दू राजा ने उनका विरोध किया उससे उन्होंने युद्ध की ठान ली और जीतकर उसे अपने अधीन कर लिया। राजनीतिक स्थिति के बिगड़ने से सामाजिक स्थिति में भी बिखराव आया। प्रमुख हिन्दू जातियाँ उपजातियों में बढ़ती गईं। धार्मिक सम्प्रदाय भी उपसम्प्रदायों में विभाजित होते गए। सभी जातियों और सम्प्रदायों में जो मेलजोल और सौहार्द पहले था, वह पूरी तरह वैमनस्य भाव में बदल गया। आये दिन एक जाति के लोग दूसरी जाति से और एक सम्प्रदाय लोग दूसरे सम्प्रदाय से लड़ने-भिड़ने लगे। इससे समाज में युद्धोन्माद बढ़ा। सांस्कृतिक मेल-जोल और एकता के अभाव ने इसे और बढ़ने दिया। संघर्ष के इस वातावरण से देश और राज्य की आर्थिक स्थिति और दयनीय हो गयी। लोग भूखों मरने लगे। भूखे लोगों को मरने और मारनेके अतिरिक्त और कोई काम नहीं रह गया था। किन्तु ये लोग जो निम्न और निम्न मध्यवर्ग के थे, लड़ नहीं पा रहे थे। इसीलिए इन्होंने लड़ने वाली जाति, विशेषकर राजपूत जाति की सेवा की और उन्हें लड़ने के लिए उकसाया। वे अपनी प्रजा को दुःखी नहीं देख सकते थे। इसीलिए उन्होंने युद्ध करना अपना नैतिक कत्तव्य मान लिया। इसीलिए एक धर्म और सम्प्रदाय के लोग दूसरे धर्म और सम्प्रदाय से अपने को श्रेष्ठ सिद्ध करने में लगे हुए थे इसके कारण भी संघर्ष बढ़ा। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "लड़ने वालों की संख्या कम थी, क्योंकि लड़ाई भी जाति विशेषका पेशा मान ली गई थी। देश और धर्म की रक्षा के लिए समूची जनता के सन्नद्ध हो जाने का विचार ही नहीं उठता था। लोग क्रमशः जातियों और उपजातियों तथा सम्प्रदायों ओर उपसम्प्रदायों में विभक्त होते जा रहे थे। लड़ने वाली जाति के लिए सचमुच ही चैन से रहना असम्भव हो गया था क्योंकि सभी दिशाओं से आक्रमण होने की सम्भावना थी। निरन्तर युद्ध के लिए प्रोत्साहित करने को भी एक वर्ग आवश्यक हो गया था। चारण इसी श्रेणी के लोग हैं। उनका कार्य ही था हर प्रसंग में आश्रयदाता के युद्धोन्माद को उत्पन्न कर देने वाली घटना-योजना का अविष्कार।" स्पष्ट है कि जिस समय कोई देश या राष्ट्र (जाति) युद्ध में व्यस्त रहता है उस समय रचनाकार का मुख्य कर्म हो जाता है उस चेतना में स्थान देना चारण-साहित्य या रासो साहित्य का प्रमुख स्वर वीरत्व होने का यही कारण था।

पृथ्वीराज रासों इस परंपरा की अन्तिम कृति है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में "ये हिंदी के प्रथम महाकवि माने जाते हैं और इनका पृथ्वीराज रासो हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। चंद दिल्ली के अन्तिम हिन्दू सम्राट् महाराजपृथ्वीराज के सामंत और राजकवि प्रसिद्ध हैं। ये महाराज पृथ्वीराज के राजकवि ही नहीं,उसके सखा और सामंत थे; तथा षड् भाषा, व्याकरण, काव्य, साहित्य, छंदशास्त्र, पुराण, नाटक आदि अनेक विद्याओं में पारंगत थे । अभी तक 'पृथ्वीराज रासो' के चार संस्करण ही उपलब्ध हैं। प्रथम संस्करण जिसका कलेवर बड़ा है, काशी नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित है और जिसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित हैं। इस संस्करण में 69 समय (खण्ड) रासो' में 7000 छंद हैं। इसका प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है, किन्तु इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ अबोहर और बीकानेर (राजस्थान) में आज भी सुरक्षित हैं। यह प्रति 17वीं शती के आसपास की है। तीसरे संस्करण का 'पृथ्वीराज रासो' का कलेवर लघु है जिसमें 3500 छंद ही संकलित हैं। इसमें केवल 19 समय हैं। इसकी प्रति बीकानेर (राजस्थान) में सुरक्षित है। चैथे संस्करण के 'पृथ्वीराज रासो का अंग है । यह इसका लघुत्तम संस्करण है। रासो' में केवल 1300 छंद हैं जिसका प्रकाशन 'राजस्थान भारती' से हुआ है। यह सबसे छोटा संग्रह है।

1162 से 1192 के बीच जब पृथ्वीराज चौहान का राज्य अजमेर से दिल्ली तक फैला हुआ था, उसके राज कवि चंद बरदाई ने पृथ्वीराज रासो की रचना की। यह हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना जा सकता है। इस महाकाव्य में पृथ्वीराज चौहान के जीवन और चरित्र का वर्णन किया गया है। चंद बरदाई पृथ्वीराज के बचपन के मित्र थे और उनकी युद्ध यात्राओं के समय वीर रस की कविताओं से सेना को प्रोत्साहित भी करते थे।

पृथ्वीराजरासो ढाई हजार पृष्ठों का बहुत बड़ा ग्रंथ है जिसमें 69 समय (सर्ग या अध्याय) हैं। प्राचीन समय में प्रचलित प्रायः सभी छंदों का इसमें व्यवहार हुआ है। मुख्य छन्द हैं – कवित्त (छप्पय), दूहा(दोहा), तोमर, त्रोटक, गाहा और आर्या। जैसे कादंबरी के संबंध में प्रसिद्ध है कि उसका पिछला भाग बाण भट्ट के पुत्र ने पूरा किया है वैसे ही रासो के पिछले भाग का भी चंद के पुत्र जल्हण द्वारा पूर्ण किया गया है। रासो के अनुसार जब शाहाबुद्दीन गोरी पृथ्वीराज को कैद करके ग़ज़नी ले गया, तब कुछ दिनों पीछे चंद भी वहीं गए। जाते समय कवि ने अपने पुत्र जल्हण के हाथ में रासो की पुस्तक देकर उसे पूर्ण करने का संकेत किया। जल्हण के हाथ में रासो को सौंपे जाने और उसके पूरे किए जाने का उल्लेख रासो में है –

पुस्तक जल्हण हत्थ दै चलि गज्जन नृपकाज।

रघुनाथनचरित हनुमंतकृत भूप भोज उद्धरिय जिमि ।

पृथिराजसुजस कवि चंद कृत चंदनंद उद्धरिय तिमि ॥

रासो में दिए हुए संवतों का ऐतिहासिक तथ्यों के साथ अनेक स्थानों पर मेल न खाने के कारण अनेक विद्वानों ने पृथ्वीराजरासो के समसामयिक किसी कवि की रचना होने में संदेह करते है और उसे १६वीं शताब्दी में लिखा हुआ ग्रंथ ठहराते हैं। इस रचना की सबसे पुरानी प्रति बीकानेर के राजकीय पुस्तकालय मे मिली है कुल 3 प्रतियाँ है । रचना के अन्त मे पृथ्वीराज चौहान द्वारा शब्द भेदी बाण चला कर गौरी को मारने की बात भी की गई है।

बहुमुखी प्रतिभा के धनी, चन्दवरदाई आदिकाल के श्रेष्ठ कवि थे । एक उत्तम कवि होने के साथ, वह एक कुशल योद्धा और राजनायक भी थे। वह पृथ्वीराज चौहान के अभिन्न मित्र थे । चन्दवरदाई के काव्य की भाषा पिंगल थी जो कालान्तर में बृज भाषा के रूप में विकसित हुई। उनके काव्य में चरित्र चित्रण के साथ वीर रस और श्रृंगार रस का मोहक समन्वय है। किन्तु पृथ्वीराज रासो को पढ़ने से ज्ञात होता है कि महाराजा पृथ्वीराज चौहान ने जितनी भी लड़ाइयाँ लड़ीं, उन सबका प्रमुख उद्देश्य राजकुमारियों के साथ विवाह और अपहरण ही दिखाई पड़ता है । इंछिनी विवाह, पह्मावती समया, संयोगिता विवाह आदि अनेकों प्रमाण पृथ्वीराज रासो में पृथ्वीराज की शृंगार एवं विलासप्रियता की ओर भी संकेत करते हैं।

1.3 - पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता

पृथ्वीराज रासो की रचना अनेक विवादों में घिरी है । इसके कारण चंदबरदाई भी विवादों में घिरे हैं । कभी तो इस ग्रंथ को जाली ही मान लिया जाता है । डॉ. श्यामसुंदर दास, मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या मिश्रबंधु, कर्नल टॉड ने कहा है कि पृथ्वीराज रासो का जो संस्करण सभा से प्रकाषित हुआ है वही प्रामाणिक है । दूसरा वर्ग रामचंद्र शुक्ल, कविराजा श्यामलदान, गौरीषंकर हीराचंद ओझा, डॉ. बूलर और देवी प्रसाद का है, जो रासो का अप्रामाणिक मानते हैं। किंतु इसे अप्रामाणिक मानते हुए भी रामचंद्र शुक्ल नेअपने हिंदी साहित्य के इतिहास में इसे स्थान दिया है। तीसरे वर्ग में मुनि जिनविजय, डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी, डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी यह मानते हैं कि पृथ्वीराज चैहान के दरबारी कवि चंद बरदाई ने ही पृथ्वीराज रासो लिखा था। किंतु उसका मूल रूप आज उपलब्ध नहीं है । चैथा मत नरोत्तमदास स्वामी का है, जिनके अनुसार चंद ने पृथ्वीराज के

दरबार में रहकर मुक्तक रूप में इस ग्रंथ को रचा था। पर कोई भी इस मत से सहमत नहीं है क्योंकि यह काव्य प्रबंध काव्य है मुक्तक काव्य नहीं है। पृथ्वीराज रासो के काव्य सौंदर्य की बजाय इसकी प्रामाणिकता की बहस सबसे अधिक रही है। अप्रामाणिकता के लिए निम्न तर्क दिए गए हैं:-

1. रासो में परमार, चालुक्य ओर चैहान क्षत्रिय अग्नि वंशी माने गये हैं, जबकि प्राचीन ग्रंथों और शिलालेखों के आधार पर वे सूर्यवंशी प्रमाणित होते हैं।

2. चैहानों की वंशावली, पृथ्वीराज की माता का नाम, माता का वंश, पुत्रा का नाम, सामंतों के नाम आदि ऐतिहासिक शिलालेखों तथा 'पृथ्वीराज विजय' नामक ग्रंथ से मेल नहीं खाते। पृथ्वीराज की माँ अनंगपाल की लड़की नहीं थी और नही जयचन्द अनंगपाल का दौहित्रा तथा राठोरवंशी था। जयानक ने पृथ्वीराज के पिता का नाम सोमेश्वर और माता का नाम कर्पूरी देवी (चेदि नरेश की पुत्री) लिखा है, जिसका समर्थन झांसी के शिलालेख से होता है, किन्तु रासो के अनुसार उनकी माता का नाम कमला (अनंगपाल की पुत्री) सिद्ध होता है।

3. ओझा जी ने पृथ्वीराज तथा जयचन्द की शत्रुता तथा संयोगिता-स्वयंवर की बात को भी अनैतिहासिक कहा है।

4. इतिहास के अनुसार अनंगपाल उस समय दिल्ली का राजा नहीं था और न ही पृथ्वीराज कोउसने गोद लिया था। पृथ्वीराज अजमेर का शासक था, न कि दिल्ली का।

5. पृथ्वीराज की बहन पृथा का विवाह मेवाड़ के राणा समरसिंह से नहीं हुआ था, क्योंकि शिलालेखों से यह प्रमाणित हो चुका है कि समरसिंह पृथ्वीराज के पश्चात् 109 वर्ष जीवित रहे।

6. गुजरात के राजा भीमसिंह का पृथ्वीराज द्वारा वध भी अनैतिहासिक है, क्योंकि राजा भीमसिंह पृथ्वीराज के पश्चात् 50 वर्षों तक जीवित रहे थे।

7. शहाबुद्दीन की मृत्यु संबंधी इतिवृत्त भी कोरी कल्पना पर आधारित है, क्योंकि गोरी की मृत्यु पृथ्वीराज के हाथों नहीं, गक्खरों के हाथों से हुई।

8. रासो में पृथ्वीराज के 11 वर्ष से लेकर 36 वर्ष की आयु तक चैदह विवाहों का वर्णन है, जबकि इतिहास के अनुसार पृथ्वीराज की मृत्यु तीस वर्ष की अवस्था से पूर्व ही हो गयी थी।

9. चंदवरदाई के अनुसार पृथ्वीराज का जन्म 1058 गोद लिया जाना 1061, कन्नौज 1090, शहाबुद्दीन के साथ युद्ध 1101 है, किन्तु दानपत्रों, शिलालेखों आदि के अनुसार तिथियाँ अशुद्ध ठहरती हैं।

10. ग्रंथ की भाषा अव्यवस्थित है। उसमें संस्कृत-प्राकृत के अनुकरण पर अनुस्वारात स्वरों की बहुलता है । कहीं-कहीं भाषा का आधुनिक रूप भी मिल जाता है विशेषतः खड़ी बोली का रूप। उसमें अरबी-फारसी के भी बहुत से शब्दों का प्रयोग हुआ है।

यदि उपर्युक्त मतों को ही अन्तिम प्रमाण मान लिया जाय, तो 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक रचना ही कहा जा सकता है ।

'पृथ्वीराज रासो' को प्रामाणिक मानने वालों में मोहनलाल विष्णुलाल पंड्या, डॉ. श्यामसुन्दर दास, मिश्रबंधु, ग्रियर्सन, कर्नल टॉड, गार्सां द तासी, डॉ. दशरथ शर्मा आदि के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ. शर्मा का एक लेख 'इण्डिया हिस्टारिकल क्वार्टरली, जि0 16, 4 दिसम्बर, 1940 में प्रकाशित हुआ है, जिसमें उन्होंने ओझा जी द्वारा प्रस्तुत तथ्यों का उत्तर देकर रासो की प्रामाणिकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया । पृथ्वीराज रासो को प्रमाणिक मानने वाले विद्वानों ने निम्नलिखित तर्क दिये हैं -

1. डॉ. दशरथ शर्मा के मतानुसार पृथ्वीराज रासो का मूल रूप प्रक्षेपों में छिपा हुआ है। अभी जो लघुत्तम प्रतियाँ मिली हैं, उनमें इतिहास-संबंधी अशुद्धियाँ नहीं हैं।

2. घटनाओं में 90-100 वर्षों का अन्तर है, वह सम्वत् की भिन्नता के कारण है। इस त्रुटि को समाप्त करने के लिए ही मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या ने 'आनन्द संवत्' की कल्पना की है जिसके अनुसार 'रासो' की सभी तिथियाँ शुद्ध ठहरती हैं।

3. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'पृथ्वीराजरासो' में 12वीं शताब्दी की भाषा की संयुक्ताक्षर अनुस्वारान्त की प्रवृति मिलती है। जिससे यह12वीं शताब्दी की पोथी सिद्ध होती है ।

4. 'पृथ्वीराज रासो', एक इतिहास-ग्रंथ नहीं, काव्यग्रंथ है । अतः उसमें इतिहास का सत्य खोजना और उसके न मिलने पर उसे अप्रामाणिक घोषित करना अनुचित है।

5. आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार 'पृथ्वीराज रासो' की रचना शुक-शुकी-संवाद के रूप में हुई थी। अतः जिन सर्गों में यह शैली नहीं मिलती उन्हें प्रक्षिप्त मानना चाहिए। यदि यह तर्क मान लिया जाय तो वे अंश प्राय प्रक्षिप्त सिद्ध हो जाते हैं जो इतिहास-विरुद्ध पड़ते थे ।

6. मिश्र बन्धुओं ने लिखा है, "पृथ्वीराज-संबंधी घटनाओं में गौरी का कई बार पकड़ा जाना लिखा है, पर इतिहास में ऐसा वर्णन एक ही बार मिलता है। इसका कारण है कि अधिकांश इतिहास मुसलमानों द्वारा लिखे गये हैं, जिन्होंने अपमान से बचने के लिए हार को कम करके लिखा है।" अरबी-फारसी शब्दों के प्रयोग के सम्बन्ध में उन्होंने लिखा है.....गोरी के आक्रमण के 200 वर्ष पूर्व से ही महमूद गजनवी की चढ़ाईयाँ होने लगी थीं और पंजाब का एक बड़ा भाग यवनों के अधिकार में चला गया था। अतः पंजाबी में मुसलमानी शब्दों का मिलनास्वाभाविक ही है। फिर चन्द का जन्म भी तो लाहौर में हुआ था।

7. 'साहित्य लहरी', 'चन्द-छंद वर्णन की महिमा' तथा ' भविष्य-पुराण' में चंदवरदाई की जाति के भट्ट और पृथ्वीराज के दरबारी-कवि होने का उल्लेख है।

डॉ, हजारीप्रसाद द्विवेदी, मुनि जिनविजय आदि विद्वानों ने रासो को अर्द्ध प्रामाणिक रचना स्वीकार किया है। डॉ. द्विवेदी ने लिखा है, "इस काल (आदिकाल) की कुछ रचनाएँ ऐसी भी हैं, जिन्हें हम अर्द्ध प्रामाणिक कह सकते हैं। इनमें सबसे महत्वपूर्ण और प्रसिद्ध ग्रंथ 'पृथ्वीराज रासो' है।" डॉ. द्विवेदी के अनुसार रासो की रचना शुक-शुकी के संवाद के रूप में हुई थी। अतः जिन सर्गों का आरम्भ शुक-शुकी संवाद से हाता है, उन्हीं को प्रामाणिक माना जाना चाहिये। इस दृष्टि से विचार करने पर 'रासो' के निम्नलिखित प्रसंग प्रामाणिक जान पड़ते हैं-

1. आरंभिक अंश, 2. इच्छिनी-विवाह, 3. शशिव्रता का गन्धर्व-विवाह, 4. तोमर परिहार का शहाबुद्दीन को पकड़ना, 5. संयोगिाता का जन्म, विवाह तथा इच्छिनी और संयोगिता की प्रतिद्वन्द्विता और समझौता।

पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता-अप्रमाणिकता से जुड़े विभिन्न पहलुवों पर विचार करने के क्रम में हमने महसूस किया कि इस काव्यग्रंथ मानकर चलना ही उचित है । किसी भी दृष्टि से यह इतिहास ग्रंथ नहीं हो। परंतु इसमें कोई शक नहीं कि चंदवरदाई पृथ्वीराज के समकालीन थे और उन्होंने पृथ्वीराज रासो नामक चरित काव्य की रचना की। इस प्रकार जो रासो काव्य चरित, कथा, आख्यायिका आदि के लक्षणों से युक्त एक पंवारा मात्र था। वह ऐतिहासिक घटना चक्र से विकासशील प्रबन्धकाव्य तो बना ही , महाकाव्यात्मक औदात्य एवं गरिमा से मंडित होकर आदिकाल का सर्वाधिक प्रसिद्ध और हिंदी साहित्य का प्रथम महाकाव्य कहलाने का अधिकारी बना।

1.4 - पृथ्वीराज रासो का काव्य - सौष्ठव

पृथ्वीराज रासो में ऐतिहासिकता के साथ-साथ कल्पना का भी सुन्दर मिश्रण किया गया है। कवि ने अपने समय की असंख्य लोक प्रचलित निजंधरी कथाओं का समावेश करके रासो को एक बृहद् आकार प्रदान किया है। वस्तु वर्णन, भावाभिव्यंजना, अलंकार योजना, भाषा, छन्द आदि सभी दृष्टियों से पृथ्वीराज रासो एक महान काव्य है। पृथ्वीराज रासो के काव्य सौष्ठव की चर्चा करते हुए हम उसके विभिन्न पहलुओं पर प्रकाश डालेंगे।

पृथ्वीराज और कुमोद्मणि तथा पृथ्वीराज और शाहाबुद्दीन गौरी के युद्धों का सजीव वर्णन मिलता है। कुछ पदों में युद्ध की क्रियाओं का वर्णन इतना सूक्ष्म है कि पाठक उसे पढ़कर प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता। युद्ध वर्णन करते समय कवि भयानक एवं वीभत्स दृश्यों के चित्रा अंकित करता है। उदाहरण अवलोकनीय है -

"जिय घोर निसांन, रांन चहुंबान दिसि।

सकल सूर सामन्त, समरि बल जंत्र मंत्र तिसि ।।"

कुमायूं का राजा अपनी बारात लेकर समुद्र शिखर की ओर चल पड़ताहै। बारात में रजकुल के सर्वथा उपयुक्त सेना, हाथी और घोड़े हैं। उसकी सेना के दस हजार घुड़सवार, हाथी तथा असंख्य पैदल सैनिक बारात के साथ चल रहे थे। हाथियों के गंड स्थलों से मदस्राव हो रहा था। उनके काले-काले शरीरों से बाहर निकले हुए दांत ऐसे सुशोभित हो रहे थे मानो पर्वतों पर श्वेत बगुलियों की पंक्तियाँ हो, बारात में बजते वाद्य मानो हिरणों को भी सम्मोहित कर रहे थे। निम्नलिखित उदाहरण देखिए-

‘‘चले दस सहससं असबार जानं।

परियं पैदल तैतीसु थानं।

मत्त मद गलित सौ परंच दन्ती।

मनो सांम पाहार बुगपांति पंती।।

चले अग्गि तेजी जु साकति यारं।

चैवरं चौरासी जु, साकति यारं।

कंठ नगं नुपं अनोपं सुलालं।

रंग पंच रंग ढलकत्त ढालं।

भाव-रस की दृष्टि से जब हम पृथ्वीराज रासो का मूल्यांकन करते हैं तो हमें केवल दो रस ही प्रधान रूप में दिखाई देते हैं। ये हैं - शृंगार और वीर-रस। शृंगार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग देखें जा सकते हैं। युद्ध-वर्णन में वीर, रौद्र, भयानक तथा विभत्स रसों की स्थिति मिल जाती है। यद्यपि इस काव्य-रचना में शृंगार के संयोग और वियोग दोनों पक्षों का वर्णन मिलता हैं लेकिन संयोग शृंगार ही प्रधान रूप में वर्णित है। उसने शाशिव्रता का सौंदर्यवर्णन किया। बताया कि उसके शरीर से शैशवावस्था जा चुकी है और किशोरावस्था प्रवेश कर चुकी है। वह सुमेरु के समान सुंदर है। सूर्य तथा चंद्र के उदय और अस्त के मध्य वह शृंगार के सुमेरु जैसी शोभायान हो रही है। वह अभी अज्ञात यौवना है -

ससिर अंत आवत वसंत। बालह सैसव जम॥

आलिं षंष कोकिल सुकंठ। सजी गुंड मिलन भ्रम॥

मरु मारत मुरि चले। मुरे मुरि बअस प्रमानं॥

तुछ कोंपर सिस पुट्टि। आणि किस्सो रंगानं॥

लीनी न अंमिनक स्याम तन। मधुर मधुर धुनि करिय ॥

जानो न बयन आवन वसंत। अंज्ञाता जोवन अरिय ॥

पत्त पुरातन झरिग। पत्त अंकुरिअ अट्ठ तुछ॥

ज्यौं सैसव उत्तरिय। चढ़िय सैसव किसोर कुछ॥

रूप सौंदर्य का वर्णन सुन पृथ्वीराज के मन में शाशिव्रता के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है।

पृथ्वीराज रासो पढ़ने से स्पष्ट होता है कि चन्दबरदाई वीर रस का वर्णन करने में सिद्धहस्त थे। उन्होंने आरम्भ से ही पृथ्वीराज के साहस, वीरता, कौशल आदि का बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। इसी प्रकार कवि ने शहाबुद्दीन गौरी की विशाल सेना का वर्णन भी प्रभावशाली ढंगसे किया है। दोनों के युद्ध वर्णन करते समय योद्धाओं की मनःस्थिति पर भी प्रकाश डाला है। पद्मावती

समय में कवि ने पृथ्वीराज, विजय, शहाबुद्दीन गौरी और कुमोदमकण जैसे चार राजाओं का वर्णन किया है। पहले तीन राजाओं (पृथ्वीराज, शाहाबुद्दीन, कुमोदमणि) के अन्य गुणों के साथ उनकी विशाल सेना का भी वर्णन है, लेकिन शाहाबुद्दीन की तो केवल विशाल सेना का ही वर्णन है। युद्ध से पूर्व कवि रणसज्जा का वर्ण करता है। बाद में भयंकर युद्ध आरम्भ हो जाता हैं और युद्ध क्षेत्रा में बाणों की वर्षा होने लगती है तथा खून की नदियां बहने लगती हैं। युद्ध वर्णन करता हुआ कवि लिखता है-

"कग्मानं बांन छुट्टिहिं अपार।

लागत लोह इमि सारधार।

घमसान घान सब वीर षेत।

घन श्रोन बत अरू रकत रेत ।।"

इसी सन्दर्भ में कवि ने गौण रूप में भयानक, रौद्र तथा वीभत्स-रसों का भी वर्णन किया है। भयानक रस का परिपाक अवलोकनीय है -

"उलटि जु राज प्रथिराज बाग ।

थाकि सूर गगन धर धसत भाग।।

समंत सर सब काल रूप।

गहि लोह-छोह बाहै सुभूप ।।"

पृथ्वीराज रासो की भाषा के बारे में लम्बे काल से विवाद चला आ रहा हैं इसका प्रमुख कारण यह है कि इसमें भाषा के अनेक रूप मिलते हैं। इसमें कहीं तो अपभ्रंश के शब्दों की भरमार है तो कहीं रीतिकाल की भांति ब्रज-भाषा की । इसी भाषा भेद के कारण कुछ लोग रासो को अप्रमाणिक भी सिद्ध करते हैं। पद्मावती समय की भाषा में भले ही कहीं-कहीं अपभ्रंश की भरमार है, लेकिन इसका मूल गठन तो अपभ्रंश ही लगता है। इस भाषा में डिंगल के साथ-साथ पिंगल दोनों भाषा का मिश्रण है। जहां कवि कोमल भावनाओं और रूपों का चित्राण करना चाहता है वहां ब्रजभाषा की कोमल पदावली का सुन्दर रूप उभर आता है। पद्मावती के रूप सौन्दर्य का चित्राण करते समय कवि ब्रज अर्थात् पिंगल का ही सहारा लेता है, यथा-

"मनहुं कला ससिभांन, कला सोलह सो बन्निय ।

बाल बैस ससि ता समीप अंम्रित रस पिन्निय ।।

बिगसि कमल म्रिग भ्रमर, बैन, षंजन स्रक लुट्टिय ।

हीर कीर अरू बिम्ब मोति नष सिष अहि घुट्टिय ।।"

परन्तु युद्ध के वर्णनों में भाषा में ओज गुण की प्रधानता आ जाती हैं ऐसे स्थल पर कवि डिंगल भाषा का प्रयोग करने लगता है । डिंगल भाषा का प्रयोग करते समय कवि ने अरबी, फारसी, तुर्की आदि विदेशी भाषाओं के शब्दों का भी प्रयोग कर दिया है। परन्तु इमें यह मान कर चलना पड़ेगा कि चंदबरदाई की भाषा शैली विषयानुरूप है। वह जिस किसी भाव, विषय या दृश्य का वर्णन करते हैं, उनकी भाषा शैली उसी का बिम्ब प्रस्तुत कर देती है। जैसे-जैसे भाव बदलते हैं, वैसे-वैसे उनकी भाषा भी अपने स्वरूप को बदल लेती हैं वस्तुतः भाषा पर कविचन्द का आसाधारण अधिकार है। काव्य रचना के आरम्भ में यदि कवि कोमलकांत पदावती का सरस प्रयोग करता है तो आगे चलकर उनकी भाषा अंगारे बरसाने लगती है । विशेषकर वीर, भयानक और रौद्र रसों का वर्णनकरते समय कवि की भाषा ओज गुण प्रधान बन जाती है ।

'पृथ्वीराज रासो' में कवि ने अलंकारों का सुन्दर एवं स्वाभाविक प्रयोग किया है, परन्तु इसे सायास नहीं कहा जा सकता। वीर और शृंगार दोनों रसों के प्रयोग में कवि ने अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया है । अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, अतिशयोक्ति, यमक, भ्रान्तिमान तथा दृष्टान्त जैसे अलंकार 'पद्मावती समय' में मिल जाते हैं। पद्य पंक्तियों को पढ़तेसमय पाठक को ऐसा लगता ही नहीं कि कोई अलंकार उसके सामने आया है। उदाहरण अवलोकनीय है-

उपमा - "रति बसन्त परमानं।

नष सवांति बंद जस ।"

रूपक - मंउल मयंक बर नारि सब।

अनुप्रास- इसम हयग्गह देस अति ।

षर भर रज रष्षह।।

अतिशयोक्ति-''इक नायक कर घरी ।

पिनाक षर भर रज रष्वह ।।''

कवि चंद को छन्दों का राजा कहा जाता है। एक आलोचक ने तो पृथ्वीराज रासो को 'छन्दों काजंगल' कहा है, क्योंकि इसमें एक सौ के लगभग छन्दों का प्रयोग है। इसमें से कुछ छन्द ऐसे हैं जिसका न तो पहले प्रयोग हुआ था तथा न ही छन्दशास्त्रा में उनका उल्लेख मिलता है। दुहा छन्द उनका सर्वाधिक प्रिय छन्द माना गया है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव और भाषा दोनों दृष्टियों से 'पद्मावती समय' एक श्रेष्ठ खण्ड काव्य है। भले ही कवि ने काल्पनिक कथानक की उद्भावना की हो, लेकिन उन्होंने इसे काव्य रचना का रूप देकर पूर्णतः प्रभावशाली बना दिया है। चन्दवरदाई भाषा के धनी कलाकार हैं। भाषा मानों उनके संकेतों पर नाचती-सी चलती है। भाव और वण्र्य विषय की पूर्ण सफलता से भाषा भावानुकूल नए्नए रूप धारण करती हैं उसने बहुत कम शब्दों में बहुत कह डालने की क्षमता है। निश्चय ही पृथ्वीराज रासो भाव-पूर्ण शृंगार और वीर रस से समन्वित आकर्षक रचना है। इसकी योजना से पृथ्वीराज रासो को अनूठी गरिमा मिली।

1.5 - शाशिव्रता विवाह प्रस्ताव की मूल संवेदना

'पृथ्वीराज रासो' एक चरित्र काव्य है, जिसला नायक इतिहास प्रसिद्ध वीर पृथ्वीराज चौहान है। तत्कालीन भारतीय जीवन में क्षत्रीय वीरों के अनुरूप पृथ्वीराज ने अपने जीवन में अनेक युद्धों में भाग लिया और अनेक सुंदरियों से विवाह किया था। चंदवरदाई ने उनके जीवन चरित के कुछ अंशों का वर्णन किया है। शशिव्रता विवाह खंड में पृथ्वीराज का देवगिरी की राजकुमारी शाशिव्रता से विवाह करने का प्रसंग वर्णित है। यह एक प्रासंगिक कथा है, पृथ्वीराज के जीवन से जुड़ी है। कथाविकास की दृष्टि से यह एक स्वतंत्र खंडकाव्य है।

कथानक का प्रारंभ शुक-शुकी संवाद से होता है। शुकी पूछती है कि दिल्लीश्वर ने गन्धर्व विवाह की कहानी सुनाओ। शुकी शुरू से शाशिव्रता के पूर्वजन्म का वृतांत भी जानना चाहती है और इस जन्म में कैसे उसका विवाह पृथ्वीराज से हुआ। शुक बताता है कि शाशिव्रता चित्रलेखा नामक अप्सरा थी, जो शापवश राजा भान की भतीजी बन कर जन्म ले चुकी है। यद्यपि उसकी सगाई कमधज वीरचंद के साथ हुई है, वह पृथ्वीराज के द्वारा अपहृत होकर उसकी पत्नी बनती है।

शुक फिर कहता है कि देवगिरी का एक नट दिल्ली दरबार में जाता है। पृथ्वीराज से पूछने पर वह बताता है कि राजकुमारी शाशिव्रता की सगाई कमधज राजा के यहाँ निश्चित हुई है।

लेकिन वह मेनका जैसी सुंदरी को वह वर पसंद नहीं है। शाशिव्रता के रूप का वर्णन सुनकर पृथ्वीराज उस पर मोहित हो गए और उसे प्राप्त करने के उपाए पूछने लगे। नट ने उन्हें पूरी मदद करने का आश्वासन दिया। पृथ्वीराज ने शिवजी की पूजा करके वरदान प्राप्त किया। उन्होंने वर्षा और शरद ऋतु को बड़ी कामपीड़ा में बिताई और फिर देवगिरी जाने का निश्चय किया।

उधर शाशिव्रता की सगाई का समाचार पाकर एक गन्धर्व स्वर्ण हंस का रूप धारण कर अपनी सखियों के साथ क्रीड़ा करती हुई शाशिव्रता के पास पहुँचा। शाशिव्रता उसे देख उत्सुक होकर उससे वृत्तांत पूछती है। वह बताता है कि मैं मतिप्रधान एक गन्धर्व हूँ। तुम्हारी सगाई वीरचंद से तय हुई है, पर उसकी आयु सिर्फ एक साल है। मुझे इन्द्र ने तुम्हारे पास भेजा है, क्योंकि तुम उसकी एक अप्सरा हो। वे और मैं तुम्हारा हित चाहते हैं। मैं त्रिलोक में सर्वत्र जाने की शक्ति रखता हूँ। वह कहता है -

तेम रहे वर बरष इक्क महिं।

हय गय जुझिझ है समंतहिं ॥

तिहि चार करि तुमहि आयो।

करि करुना यह इन्द्र पठायो ॥

यह सुनकर शशिव्रता वीरचंद से विमुख हो गई और अपने लिए योग्य वर का पता पूछने लगी। हंस ने शाशिव्रता के आगे दिल्लीश्वर पृथ्वीराज की प्रशस्ति सुनाई। तब शाशिव्रता उसे उन्हें बुला लाने का आग्रह करती है। छह महीने तक शाशिव्रता प्रतीक्षा करेगी, नहीं तो प्राण त्याग देगी -

वहाँ तुम पिता कृपा करि जाउ। दिल्लीवै अनुराग उपाउ॥

मास षटह हौं वृत्तह मंडों। तथयुना आवै तो तनु छंडो॥

तब हंस दूत बनकर पृथ्वीराज के पास जा पहुंचा। उसके स्वर्ण शरीर को देख राजा ने उसे स्नेह के साथ पास बुलाया और कुशल समाचार पूछा। उसने बता दिया - मैं शाशिव्रता का दूत हूँ। वह सुंदरी तुम्हारे लिए व्रत करके बैठी हुई है। उसने शाशिव्रता का सौंदर्यवर्णन किया। बताया कि उसके शरीर से शैशवावस्था जा चुकी है और किशोरावस्था प्रवेश कर चुकी है। वह सुमेरु के समान

सुंदर है। सूर्य तथा चंद्र के उदय और अस्त के मध्य वह शृंगार के सुमेरु जैसी शोभायान हो रही है। वह अभी अज्ञात यौवना है -

ससिर अंत आवत वसंत। बालह सैसव जम ॥

आलिं षंष कोकिल सुकंठ। सजी गुंड मिलन भ्रम॥

मरु मारत मुरि चले। मुरे मुरि बअस प्रमानं॥

तुछ कोंपर सिस पुट्टि। आणि किस्सो रंगानं॥

लीनी न अंमिनक स्याम तन । मधुर मधुर धुनि करिय ॥

जानो न बयन आवन वसंत । अंज्ञाता जोवन अरिय ॥

पत्त पुरातन झरिग। पत्त अंकुरिअ अट्ठ तुछ॥

ज्यौं सैसव उत्तरिय । चढ़िय सैसव किसोर कुछ॥

रूप सौंदर्य का वर्णन सुन पृथ्वीराज के मन में शाशिव्रता के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है । वह उसे पाना चाहता है । वह हंस से उसके बारे में अधिक जानना चाहता है । हंस भी उसके पूर्व जन्म का वृत्तांत बताता है। सगाई की बात बताता है । शशिव्रता उसके प्रति आकृष्ट होकर रोज शिव पूजन करती है । हंस बताता है कि पहले ही शाशिव्रता के मन में तुम्हारे प्रति प्रेमांकुर उत्पन्न हो चुका है। वह राजा भान के छोटे भाई पुंज की पुत्री है। वह कामदेव के सधे बाण के समान है । वह राजा के मंत्री की भं चन्द्रिका से तुम्हारा गुणगान सुन चुकी है और तुम पर अनुरक्तहै । हंस तब शाशिव्रता के नखशिख सौंदर्य का वर्णन करता है । हंस पृथ्वीराज को आश्वस्त करता है कि शिव के वरदान से वह आपको अवश्य प्राप्त होगी । आप शाशिव्रता को देवचंद के हाथों से बचाकर ले आइए हंस यह प्रेम संदेश देकर उड़ गया।

तब पृथ्वीराज अपने सैन्य सामंतो के साथ देवगिरी के लिए कूच करते हैं । उधर वीरचंद एक लाख दस हजार सेना लेकर शाशिव्रता के विवाह के लिए देवगिरी आता है। यह सुनकर जब शाशिव्रता आत्महत्या करने को तैयार हो जाती है, तभी हंस पहुंचकर उसे पृथ्वीराज के प्रेम और आगमन की सूचना उसे देता है।

पृथ्वीराज के आगमन की बात सुनकर शाशिव्रता माता-पिता से आज्ञा लेकर शिवपूजन के लिए हरसिद्धि नाम से स्थान पर चली जाती है। उसने सोलह शृंगार किया। इस अवसर पर कवि उसके सौंदर्य और आभूषणों, मनोदशा का विस्तार से वर्णन करता है।

अंत में भयानक युद्ध होता है। तब शाशिव्रता के नेत्रों में शृंगार और भय, वीर सामंतों में वीर रस, पृथ्वीराज में रौद्र रस और अप्सराओं में हास्य तथा देवताओं में भयानक रस देखा जा सकता है -

भान कुँवरि शशिवृत्ति। नैन शृंगार सुराजै ॥

वीर रूप सामंत । रुद्र पृथ्वीराज विराजै ॥

चंद अद्भुत जानि। भे कातर करुनामय ॥

बीभछ अरिन समूह । सांतो उप्पनौ मरन भय॥

उपज्यौ हास अपछरि अमर। भो भयान भावी विगती ॥

कूरंभराय पृथिराज वर। लरन लोह चिते तरनि ॥

इस प्रकार शशिव्रता विवाह प्रसंग की नायिका शाशिव्रता है। वह केंद्रबिंदु है जिसके चारों ओर कथा का तानाबाना बुना गया है।

शाशिव्रता विवाह - खंड कवि चंदवरदाई की काव्यकला का उत्कृष्ट नूमना है। इसमें वीर और शृंगार रस की कुशल निष्पत्ति हुई है। वैसे तो एक छंद में कवि नव रसों की अनुभूति करा देता है। संपूर्ण प्रसंग में बाह्य वर्णन और भावव्यंजना का मणिकांचन संयोग हुआ है। शृंगार का ऐसा सांगोपांग और काव्यात्मक वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। शाशिव्रता विवाह प्रसंग में वीर रस और शृंगार में शौर्य और प्रेम सौंदर्य के अभिराम दृश्य एक साथ दिखाए गए हैं।

1.6 - सारांश

हिंदी साहित्य में वीरगाथा काल का व्यापक महत्व है । प्राचीन युग में अनेक वीरगाथाएं उस युग में साहित्य के लिए ही नहीं बल्कि समाज के लिए भी अत्यंत महत्वपूर्ण रहीं हैं। इन वीरगाथाओं में वीरता के साथ ही सौंदर्य का भी समावेष रहा है। यह कहा जा सकता है कि शृंगार और वीररस को किसी भी राजा के जीवन से अलग नहीं किया जा सकता। रासो काव्य राजाओं के जीवन चरित और

घटनाओं पर लिखे गए हैं। रासो काव्यों की यही प्रवृत्ति है। किसी रासो में वीर रस का और किसी में शृंगार रस का महत्व है। बीसलदेव रासो में अगर शृंगार की प्रधानता है तो पृथ्वीराज रासो में वीररस की। इसी प्रकार इस युग में लोकभाषा काव्य भी लिखे गए, जिसमें ढोला-मारू रा दूहा प्रसिद्ध है। इस तरह इन काव्यग्रंथों में पृथ्वीराज रासो का अपना विषेष महत्व है। पृथ्वीराज चैहान भी अपने समय के इतिहास प्रसिद्ध राजा रहे। इसी प्रकार चंद बरदाई को भी उन कवियों में माना गया, जिन्होंने केवल रचनाएं ही नहीं लिखी बल्कि युद्ध के मैदान परजाकर भी अपने कर्म का प्रमाण दिया।

यही कहा जा सकता है कि अनेक विवादों के बीच भी पृथ्वीराज रासो को एक काव्य रचना के रूप में कोई भी इतिहासकार या साहित्यकार नकार नहीं सकता। यह प्राचीन हिंदी साहित्य की एक महानतम रचना है, जिसमें उस युग के काव्य को अपने समय के इतिहास के साथ रखा जा सकता है। इस अर्थ में चंद बरदाई और उनका पृथ्वीराज रासो हिंदी साहित्य की एक प्रामाणिक उपलब्धि है और इसी कारण इस रचना को हिंदी का प्रथम महाकाव्य कहा गया है।

इकाई 2 : विद्यापति

2.0 - परिचय

2.1 - इकाई का उद्देश्य

2.2 - लोक संस्कृति युगीन परिदृश्य

2.3 - गीति परंपरा और विद्यापति

2.4 - शृंगार और भक्ति

2.4.1 - विद्यापति के काव्य में शृंगार

2.4.2 - विद्यापति के काव्य में भक्ति

2.5 - विद्यापति पदावली का काव्यगत वैशिष्ट्य

2.6 - सौंदर्य - चेतना : प्राकृतिक सौंदर्य

2.6.1 - प्राकृतिक सौंदर्य

2.6.2 - शृंगारिक सौंदर्य

2.6.3 - प्रेम संबंधी सौंदर्य

2.0 - परिचय

हिंदी साहित्य के आरंभिक युग में कई शैलियाँ और धाराएं एक साथ विकसित हुई। इस युग में महाकाव्य भी लिखे गए और मुक्तक भी, प्रशस्ति काव्य भी रचे गए और शृंगार काव्य की भी रचना की गई, सिद्ध नाथों ने भी काव्य रचा और जैन मुनियों ने भी साहित्य की रचना की। इसी युग में विद्यापति कविताएँ लिख रहे थे । विद्यापति का युग आदिकाल के अवसान का युग था।

भक्तिकाल का आरंभ नहीं हुआ था और आदिकाल की क्षमताएं चुक रही थीं। दहलीज पर खड़ा कवि आदिकाल की पूरी परंपरा से जुड़ा था और नए युग के आगमन का संकेत भी दे रहा था। इसीलिए 'कीर्तिलता' और 'कीर्तिपताका' जैसे प्रशस्ति काव्य ग्रंथ लिखे गए, पदावली जैसी शृंगारिक उक्तियाँ अभिव्यक्त की गईं और राधा तथा कृष्ण का स्मरण कर कवि ने बता दिया कि आने वाला युग भक्ति को समर्पित है। विद्यापति की इस व्यापकता में विविधता, नूतनता और प्रयोग भी परिलक्षित हो सकता है और कहीं-कहीं इन सभी प्रवृत्तियों के बीच अंतर्विरोध भी नजर आता है।

2.1 - इकाई का उद्देश्य

अब हम आदिकाल के प्रमुख कवि विद्यापति का अध्ययन करने जा रहे हैं। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- विद्यापति के साहित्य में राजनीति, समाज और इतिहास का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- गीतिकाव्य के रूप में विद्यापति पदावली की विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।
- विद्यापति के काव्यगत विशेषताओं से परिचित हो सकेंगे।
- विद्यापति पदावली में भक्ति और शृंगार को विस्तार से जान सकेंगे।
- विद्यापति के काव्य की सौंदर्य चेतना से सूक्ष्म रूप से परिचित हो सकेंगे।
- परवर्ती काव्यधारा पर विद्यापति के प्रभाव का मूल्यांकन कर सकेंगे।

2.2 - लोक संस्कृति युगीन परिदृश्य

विद्यापति के गीत मिथिला के जन-जीवन में, विशेषतः स्त्रियों के कलकंठ में इतने रच-बस गए हैं कि वहाँ के सांस्कृतिक जीवन का कोई भी संस्कार या अनुष्ठान इनके बिना अपूर्ण माना जाता है।

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी द्वारा संपादित 'विद्यापति की पदावली' में 265 पद संकलित हैं। यह संग्रह मुख्यतः श्री नगेन्द्रनाथ गुप्त वाले संकलन पर अवलम्बित है। इसको वैज्ञानिक दृष्टि से संपादित संकलन नहीं कहा जा सकता, क्योंकि मूल पाण्डुलिपियों वेफ सहारे इसकी भाषा का संशोधन और पाठ की प्रामाणिकता की जाँच करना संपादक के लिए संभव नहीं हो सका है। बेनीपुरी जी ने 'पदावली' में पदों का क्रम अपनी सुविधानुसार निर्धारित किया है और उनवेफ वर्ण्य के अनुरूप

उनको अलग-अलग शीर्षकों वेफ अन्तर्गत व्यवस्थित कर दिया है। 'पदावली' को उन्होंने निम्नलिखित विषय क्रम दिया है - वंदना, वय सन्धि, नख-शिख, सद्यस्नाता, प्रेम-प्रसंग, दूती, नोंक-झोंक, सखी-शिक्षा, मिलन, सखी-संभाषण, कौतुक, अभिसार, छलना, मान, मान-भंग, विदग्ध विलास, वसंत, विरह, भावोल्लास, प्रार्थना और नचारी, विविध।

सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण से विद्यापति का युग मात्र मिथिला के लिए ही नहीं अपितु समस्त उत्तर भारत के लिए महत्वपूर्ण था। इस युग के राजनैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ। जाति व्यवस्था कठोर हुई परंतु राजनैतिक दृष्टि से उसमें परिवर्तन की आवश्यकता महसूस हुई। एक प्रकार से सामाजिक लोक संस्कृति का बीजारोपण इस युग में हो रहा था। विद्यापति ने कीर्तिलता में जौनपुर की कला का जो वर्णन किया है उसके अध्ययन से उपरोक्त कथन की पुष्टि होती है। 14वीं - 15वीं शताब्दी का मिथिला प्रदेश लोक सांस्कृतिक क्षेत्र में उत्तर भारत में अग्रगण्य था और इस क्षेत्र की उस प्रगतिशील संस्कृति के श्रेष्ठ उन्नायक थे महाकवि विद्यापति।

2.3 - गीतिपरंपारा और विद्यापति

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी लिखते हैं "लीला के पद कब लिखें जाने लगें - वह भी कुछ निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता, किंतु दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में मात्रिक छंदों में श्रीकृष्णलीला के गाने की प्रथा चल पड़ी थी, इसमें कोई संदेह नहीं। जयदेव का गीतगोविंद इसी प्रकार के मात्रिक छंदों के पद में लिखा गया था।...जयदेव के बाद उसी प्रकार की पदावली बंगाल के चंडीदास और मिथिला के विद्यापति नामक कवियों ने लिखी।...जिस प्रकार के पद बंगाल और उड़ीसा में प्रचलित थे उसी प्रकार के पद सुदूर पश्चिम में भी प्रचलित थे। अर्थात पूर्व से पश्चिम तक संपूर्ण भारत में ऐसे पद व्याप्त थे।" (हिंदी साहित्य का आदिकाल, पृष्ठ - १०९) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का यह मत आपके सामने रखने का मकसद यह है कि आप यह जान लें कि विद्यापति जिस समय पदावली की रचना कर रहे थे उस समय उसका अखिल भारतीय स्वरूप मौजूद था। हिंदी में और खासकर मैथिली में विद्यापति गीतिकाव्य परंपरा के प्रणेता के रूप में उभरते हैं।

लीलागान की यह परंपरा लोक मानस में मौजूद थी। इसलिए इनमें जनमानस और जन भावना की सरल, सहज और अविरल अभिव्यक्ति हुई है। विद्यापति की पदावली में प्रेम भी है और भक्ति भी, शृंगार भी है और आध्यात्मिकता भी।

पदावली के कारण ही विद्यापति मैथिल कोकिल कहलाए। उन्होंने जन भाषा मैथिली में काव्य रचना की। विद्यापति जन कवि थे। उनके जन सरोकार, जनचेतना, भावनात्मक उत्कर्ष तथा अनुभूति की सूक्ष्मता का परिचय उनकी पदावली ही देती है।

पदावली श्रेष्ठ गीतिकाव्य है। इनमें भावों की लयात्मक गति के साथ-साथ काव्य और संगीत का अनूठा सामंजस्य है। उनके असंख्य गीत लोककंठ में बस गए हैं। उनका यह काव्य लोकसंस्कृति से गहरे रूप से जुड़ा हुआ है। इसमें जन-जीवन की सामन्य सच्चाई प्रस्फुटित हुई है।

बड़ा कवि अनुकरणीय होता है। उससे उसके युग के कवि प्रभावित होते हैं। विद्यापति से भी गोविंद दास, हरिदास आदि मैथिली के कवि प्रभावित हुए। सूरदास के लीलापदों पर भी विद्यापति के गीतों का प्रभाव स्पष्ट है। यही नहीं निराला के गीतों पर भी विद्यापति की गीतात्मकता का प्रभाव देखा जा सकता है। असम के श्रीमंत शंकरदेव, माधवदेव के 'बरगीत' तथा 'अंकियानाट' पर विद्यापति के गीतों की स्पष्ट छाप है।

साहित्य और काव्य के अन्य उपभेदों की तरह ही गीतिकाव्य की भी कोई सर्वमान्य परिभाषा स्थिर करना कठिन है। परंतु कई आचार्यों ने जो अपने-अपने मत प्रकट किए हैं उस आधार पर गीतिकाव्य की जो कुछ विशेषताएं दिखती हैं, वे हैं - मुक्तक पद, गेयता, भावना की तीव्र अभिव्यक्ति तथा घटना प्रवाह की त्वरा। अर्थात गीतवाद्यों के साथ गाया जाने वाला छन्दबद्ध काव्य गीतिकाव्य होगा। हीगेल ने गीतिकाव्य की दो आवश्यक शर्तें बताई हैं। उनके अनुसार गीतिकाव्य के पूरे छंद में संबद्धता अनिवार्य है। भावुकता और प्रभाव की समान स्थिति का अटूट निर्वाह होना चाहिए। इसके बिना प्रभावान्विति क्षरित होती है। इनकी दूसरी शर्त है, कथन और घटना-प्रवाह में त्वरित परिवर्तन की स्थिति। अर्थात नई बात कहकर उसे तुरंत पूर्वकथित हिस्से से जोड़ देना इससे रसोद्रेक उत्पन्न कर प्रभाव को उत्कर्ष देना, एक सफल गीतकार का कौशल है।

गीतिकाव्य की उत्पत्ति की चर्चा करते हुए डॉ. शिवप्रसाद सिंह लिखते हैं, "काव्य की अन्य विधाओं की तरह गीति काव्य चूँकि सचेत बुद्धि व्यापार से उत्पन्न वस्तु नहीं है, इसलिए आदिम मानव के अति पुरातन और आरंभिक भावों के साथ ही गीतिकाव्य का जन्म हुआ। हालांकि यह कहना कठिन है कि गीतिकाव्य के आविर्भाव का निश्चित काल क्या है, किंतु इतना तो

सहज अनुमेय है कि संवेगों की तीव्रता और उद्वेलन की सामान्य परिस्थितियों में भावाकुल अभिव्यक्ति ने स्वरों का रूप लिया - ऐसे शब्द और अर्थ उनकी पुनरावृत्ति - यही गीतिकाव्य है ।" (विद्यापति, पृष्ठ - 111)

हिंदी गीतिकाव्य के पहले रचनाकार विद्यापति हैं । विद्यापति लीलागान की परंपरा में आती है । लीलागान की परंपरा लोकमानस में व्याप्त थी । इसका प्रमाण जयदेव का गीतगोविंद है । बंगाल, उड़ीसा, कश्मीर में श्रीकृष्ण लीला के गाने का प्रचलन था । हिंदी में सर्वप्रथम विद्यापति ने इस प्रकार के गीतों की रचना की । उनकी पदावली जयदेव के गीतगोविंद से प्रभावित है ।

विद्यापति ने गीतिकाव्य के रूप में पदावली की रचना मुक्तक शैली में सफलतापूर्वक की इसमें आए भाव अपने आप में पूर्ण और स्वतंत्र हैं। गीतिकाव्य की भावनाओं की अभिव्यक्ति की प्रमुखता होती है। विद्यापति पदावली में राधाकृष्ण के व्यक्तिगत प्रेम का सूक्ष्म अंकन हुआ है । संगीतात्मकता और कोमलकांत पदावली के लिए तो विद्यापति की पदावली प्रसिद्ध है। उनकी कविता में काव्य और संगीत का अद्भुत मेल हुआ है। विद्यापति पदावली में गेय तत्व और काव्यत्व इस कदर एक दूसरे में घूलमिल गए हैं कि उन्हें एक-दूसरे से अलग करना मुश्किल प्रतीत होता है । भावों की तीव्र अभिव्यक्ति और संक्षिप्तता विद्यापति के गीतों की विशेषता है। ये सब तत्व मिलकर विद्यापति पदावली को एक श्रेष्ठ गीतिकाव्य बनाते हैं।

विद्यापति के जन सरोकार, जनचेतना, भावनात्मक उत्कर्ष, अनुभूति की सूक्ष्मता का परिचय सही अर्थों में इनकी पदावली ही देती हैं जो लोकभाषा में लिखी गई हैं । इनकी संस्कृत रचनाएँ तो इनके पांडित्य का द्योतक है। पदावली की रचनाएँ मोटे तौर पर दो तरह की हैं - एक भक्तिपरक और दूसरी प्रेमपरक । भक्तिपरक रचनाओं के आधार पर विद्वानों में इन्हें शैव, शाक्त, वैष्णव आदि तरह-तरह के संप्रदाय में स्थापित करने का मतभेद चलता रहा है। शृंगारिक रचनाओं में भी इनके फलक काफी विस्तृत हैं । इन सारी स्थितियों के साथ जो एक विशेषता सभी जगह उपस्थित है वह है इन रचनाओं की गीतिमयता । विद्वानों की बैठक से लेकर चूल्हे-चौके तक, गृहस्थों की मंडली से लेकर साधुवों के समुदाय तक, भक्तों - पुजारियों से लेकर प्रेमी-प्रेमिकाओं के प्रणय तक विद्यापति के गीत प्रसिद्ध प्रशंसित और मनोहारी है। इनी गीतों के शब्द और छंद पर कवि की पकड़ बेजोड़ है । इन रचनाओं में जीवन की अनुभूति है। इन गीतों को पढ़कर ऐसा लगता है कि कवि को संगीतशास्त्र का अच्छा ज्ञान था ।

गीतिकाव्य को व्याख्यायित करते हुए प्रोफेसर मैनेजर पांडेय लिखते हैं, "गीतिकाव्य व्यक्ति के संवेदनशील चित्त में रूपायित भावनाओं का आवेगमय लयात्मक सहज प्रकाशन है । भावनाओं की तीव्र आत्मानुभूति गीतिकाव्य का प्राण हैं और लयात्मक निश्छल अभिव्यक्ति उसका सार्थक रूप । गीतिकाव्य में कवि के व्यक्ति चित्त और लोकचित्त का एकात्म्य होना जरूरी है । (भक्ति आंदोलन और सूरदास का काव्य, पृष्ठ - 281) इस आलोक में यदि विद्यापति के गीतों का अनुशीलन किया जाए तो साफ दिखता है कि यहाँ कवि का जीवनानुभव आम जनता का अनुभव उतर आया है।

सपने देखल हरि, गोल्हुं पुलकें पुरि

जगह कुसुम सरासन रे ।

ताहि अवसार गोरि नींद मांगल मोरि,

मनहि मलिन भेल बासन रे ।

की सखि पओलह सुतलि जगओलह

सपनेहुं संग छड़ओलह रे ।

विरह में व्याकुल नायिका नींद में सोई हुई है । स्वप्न में प्रिय (कृष्ण) से मिलकर पुलकित है। कामदेव उसके अंग-अंग में जग उठा है । पर ऐसे ही अवसर पर राधा की सखि उसे जगदा देती है । एक विरहिणी की इस दारुण दशा को विद्यापति ने अपनी उक्त पंक्तियों में व्यक्त किया है । नायिका अपनी सखि को उलाहना देती है कि सपने में भी मुझे तुमने अपने प्रिय से मन भर नहीं मिलने दिया । मेरा यह सुख छीनकर तुम्हें क्या मिला।... यह दशा केवल विद्यापति की राधा की ही नहीं, विरह के आग में झुलसती किसी भी नायिका की हो सकती है । नारी मन की इस व्यथा को राधा के द्वारा व्यक्त करते हुए महाकवि ने आवेगमय भावनाओं को जिस लयात्मकता के साथ चित्रण किया है, उसे सिर्फ महसूस किया जा सकता है।

विद्यापति पदावली में तीन प्रकार के पद है - राधा - कृष्ण संबंधी पद, शिव, विष्णु, गंगा, जानकी, दुर्गा आदि हिंदू देवी देवताओं के स्तुतिपरक पद तथा आश्रयदाता राजाओं की स्तुति भरे पद। राधा-कृष्ण संबंधी पदों में शृंगार रस की प्रधानता है। यहाँ रीतिकालीन काव्य के सारे लक्षण मिल जाएंगे, यथा -रति क्रीड़ा, नखशिख वर्णन, संयोग वर्णन, विरह वर्णन आदि । दूसरे भाग में

शिव, दुर्गा, विष्णु आदि के स्तुतिपरक गीतों में विद्यापति का भक्ति भाव स्पष्ट परिलक्षित होता है। तीसरे प्रकार के पदों में विद्यापति ने अपने आश्रयदाताओं की वीरता का गुणगान किया है।

विद्यापति के पदों की सबसे बड़ी विशेषता उसकी संगीततात्मकता की है। सर्वविदित है कि विद्वानों से लेकर हल चलाने वाले तक की मंडली में विद्यापति के पदों की लोकप्रियता का कारण इसकी सहज संगीततात्मकता, सरल संप्रेषणणीयता और उसमें लोकचित्त की भावनाओं की अनुगूंज ही है। गीतिमयता इनके गीतिकाव्य के प्राणतत्त्व है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मैथिली में रचे गए इनके सारे के सारे पद गीति ही है। गेयधर्मिता इनमें इस तरह भरी हुई है कि रागों के सारे शास्त्रीय विधानों के साथ कई बड़े संगीतज्ञ भी ये गीत सफलतापूर्वक गाते हैं, लय, ताल, छंद, मात्रा की कोई त्रुटि उन्हें इन गीतों में नहीं दिखती और दूसरी तरफ एकदम से अपटु व्यक्ति जिन्हें संगीतशास्त्र के व्याकरण की कोई जानकारी नहीं है, वे भी बड़ी तन्मयता से गाकर आत्ममुख प्राप्त करते हैं। एक गीत है - 'कखन हरब दुख मोर हे भोलानाथ'। यह बात अचंभे की है कि इस एक गीत को बगैर कहीं किसी शब्द और मात्रा परिवर्तन के लोग कभी प्रातःकालें धुन पर गाते हैं, कभी सोहर की धुन में, कभी किसी और ही धुन में। यह इन गीतों में आत्मा की तरह बैठी हुई संगीततात्मका ही है जो इन्हें इस कदर लयबद्ध की हुई हैं।

विद्यापति के गीतों में यह बहुत बड़ी विशेषता है कि इनके यहाँ सारे काव्यगीत उन तत्वों से युक्त हैं जिनके कारण गीतकार की तन्मयता के अनुरूप ही पाठकीय तन्मयता मौजूद है। पाठक, भावक और गायक तीनों ही वर्ग के लोग इन गीतों में उतनी ही तन्मयता से खो जाते हैं, जितनी रचनाकार की रही होगी। इनकी गीति रचनाएँ चाहे भक्तिपरक हों अथवा शृंगारपरक, शक्ति वन्दना हो या गंगा स्तुति या शिव नचारी, विरह विलाप हो या मिलन सुख से युक्त- सबके सब भावक की लीन करने में सफल हैं। पावस की रात में मेघ जब अपनी सारी कलाओं से बरस रहा होता है, तब घर में अकेली बैठी हुई कोई युवती अपने पिया की अनुपस्थिति की पीड़ा किस तरह शती है, इसको चित्रित करते समय महाकवि ने 'जब सखि हे हमर दुखक नहि ओर' गीत लिखा होगा तो कितनी तन्मयता रही होगी, यह कल्पनीय है। इस गीत में यौन पिपासा, देह लिप्सा और उद्धत कामुकता से आतुर किसी कामुक युवती की अश्लील काम भावनी नहीं, विरह की आत्यन्तिक पीड़ा सहती, प्रेम रंग में रंगी एक प्रेम तपस्विनी की व्यथा व्यक्त हुई, जिसे सुनकर, पढ़कर या गाकर कोई भी व्यक्ति उस दृश्य से एकात्म्य स्थापित कर लेता है। इन गीतों में मणिकंचन संयोग की दशा यह है कि एक तरफ चित्रण ऐसे उत्कर्ष पर और दूसरी तरफ गीतिमयता यह है कि पढते हुए पाठक के भीतर से कोई संगीत

बज उठे । शब्दों का उच्चारण होते ही अनुभव हो कि शायद आसपास कोई वाद्य यंत्र बज रहा हो, कोई मादक संगीत चल रहा हो, जो भीतर से हृदय को कहीं कुदेरता है -

इम्पि घन गरजन्ति संतन भुवन भरि बरिसन्तिया

कंत पाहुन काम दारुण सघने खर शर हन्तिया।

कुलिश कत शत पात मुदिर मयूर नाचत मातिया

मत्त दादुर डाके डाहुकि फाटि जायत छातिया ॥

विद्यापति के गात एक ओर लोकगीतों के करीब हैं तो दूसरी ओर इनमे शास्त्रीयता भी है । विभिन्न स्थानों से विद्यापति की जो पदावलियाँ हासिल हुई हैं, उसमें संकलित पदों के शीर्ष पर रागों का नाम उल्लिखित है कि कौन सा गीत किस राग में गाया जाएगा । मालव राग, धनछरी, सामरी, अहिरानी, केदार, कोलाव, सारंगी, गुंजरी, बसंत , विभास, नटराग, ललित, वरली आदि रागों का उल्लेख पदों के शीर्ष पर है ।

महाकवि विद्यापति के कई गीत यदि लोक कंठ में बस गए हैं तो उसका कारण यही है कि यहाँ शब्द संगीत, नाद संगीत और भाव संगीत तीनों एकमेक होकर ऐसी त्रिवेणी बहा रहा है मानो गीतिकाव्य का आनंदातिरेक यहीं से शुरू होकर यहीं खत्म हुआ चाहता है। जब 'के पतियालाए जायत रे', सखि है, हमर दुखक नहि ओर', 'सखि की पूछसि अनुभव मोहिं, 'प्रथम सूमागम भुषल अनंग', 'उगना रे मोर कतए गेलाह', 'जय जय भैरवि असुर भवाउनि', 'बड़ा सुखसार पाओल तुअ तीरे' ... जैसे गीतों के पद पढ़े जाते हैं तो इनमें शब्द संगीत, नाद संगीत और भाव संगीत की ऐसी तागत भरी हुई है कि बिना प्रयास के लयहीन मनुष्य के मुँह से भी धुन और लय फूट पड़ता है। इनके गीतों को गाने की जरूरत नहीं होती, वहाँ संगीत तत्व इतना बलवान है कि वह स्वतः फूट पड़ता है ।

गीत-शिल्प की दृष्टि से भी विद्यापति के गीत खरे उतरते हैं । समय, वातावरण और भावक की मनःस्थिति के अनुसार उन्होंने गीतों में शब्दों और छंदों का चयन किया है । यदि राधा से मिलनातुर कृष्ण की मनःस्थिति का चित्रण करना हुआ है, तो कवि ने बाँसुरी की टेर से मेल-खाते छोटे-छोटे, नाद-सौन्दर्ययुक्त शब्दों को संयोजित कर गीत-रचना कर दी है -

'नन्दक नन्दन कदम्ब क तरुतर

घिरे-घिरे मुरलि बजाव।

समय संकेत-निकेतन बइसल

बेरि-बेरि बोलि पठाव।'

इस गीत के एक-एक शब्द में ताल और लय है, तरलता और थिरकन है। गंगा की स्तुति में विद्यापति ने जो पद लिखा है -

ब्रह्म कमण्डलु वास सुवासिनि सागर नागर गृहबाले।

पातक महिष विदारन कारन धृत-करवाल बीचि-माले।

जय गंगे जय गंगे, सरनागत भय-भंगे।' इत्यादि।

उसमें सांध्य-आरती के समय का शांत-गंभीर वातावरण उत्पन्न करने की चेष्टा की गई है। देवी की स्तुति में लिखे पदों -

'कनक-भूधर-शिखर-वासिनि चन्द्रिकाचयचारुहासिनि

दशनकोटिविकासबंकिमतुलित चन्द्रकले।' में भी ऐसी ही गुरु-गंभीरता है। ऐसे गीतों की भाषा में संस्कृत के सामासिक शब्दों का बाहुल्य हो गया है, लोक भाषा मैथिली की तरलता, सरलता, सुकुफमारता और लोच-लचक उसमें नहीं मिलती। शब्दों के प्रयोग से कवि नादसौंदर्य उत्पन्न करने में पटु है।

विद्यापति के गीतों में गीतिकाव्य के सभी गुणों का सुन्दर सन्निवेश हुआ है। उनमें भाव की सघनता और तीव्रता है तथा गेयता भी। डॉ. 'नलिन' के शब्दों में, विद्यापति-पदावली मूर्च्छना-भरे संगीत की रंगस्थली है और आत्मविस्मृत कर देने वाली अनुभूत्रिों का साधना-मन्दिर है। (विद्यापति एक तुलनात्मक समीक्षा, पृष्ठ - 38)

2.4 - शृंगार और भक्ति

विद्यापति के भक्ति प्रधान गीत और शृंगार प्रधान गीतों की पड़ताल थोड़ी सावधानी से करने की जरूरत है। कारण, इनके यहाँ भक्तिकालीन कवियों की तरह न तो एकेश्वरवाद है और न ही अन्य शृंगारिक कवियों की तरह लोलुप भोगवाद । विद्यापति के काव्य में ऐसी जीवानुभूती है कि भक्ति, शृंगार पर और ज्यादातर जगहों पर शृंगार , भक्ति पर हावी नजर आता है। इनके यहाँ भक्ति और शृंगार की धाराएं कई-कई दिशाओं में फूटकर इनके जीवनानुभाव को फैलाती है और कवि के वैराट्य को दर्शाती है। भक्ति और शृंगार दोनों प्रवृतियाँ मध्यकाल के साहित्य में पाई जाती हैं । डॉ. शिवप्रसाद सिंह की राय में अपभ्रंश साहित्य की भक्तिपरक रचनाओं की मुख्य विशेषताएं राधाकृष्ण संबंधी पदों में भक्ति और शृंगार का समन्वय, शृंगार का अत्यंत मुखर रूप, संगीत-प्रेम-भक्ति का समन्वय आदि हैं । (विद्यापति, पृष्ठ - 96) हो न हो विद्यापति के पदों में संगीतमयता, प्रेम और भक्ति के इतने उत्कृष्ट रूप का कारण विरासत का प्रभाव भी हो।

2.4.2 - विद्यापति के काव्य में शृंगार

'पदावली में यद्यपि शृंगार के अतिरिक्त शान्त, वीर, रौद्र एवं अद्भुत रसोंका भी समावेश हुआ है, तथापि उसका प्रधान रस है शृंगार। शृंगार-वर्णन में ही विद्यापति की काव्य-प्रतिभा को चरमोत्कर्ष प्राप्त हुआ है। उनके शृंगारपरक पदों में उनके भावलोक की समस्त विशेषताओं, जैसे भावों का सम्यक विस्तार मनोवैज्ञानिकता, निरीक्षण की सूक्ष्मता और अनुभूति की तीव्रता आदिके दर्शन होते हैं। विभाव, अनुभाव और संचारी के सम्यक निरूपण के द्वारा कवि के भावपक्ष को प्रभावोत्पादक, सजीव और सशक्त बना दिया है। आइए, पहले विद्यापति के संयोग शृंगार-वर्णन पर विचार करें।

विद्यापति का संयोग शृंगास्वर्णन

हिन्दी काव्य की परंपरा के अनुसार प्रायः कवियों द्वारा संयोग-पक्ष में आलंबन के रूपविधान पर अधिक ध्यान दिया जाता है और विप्रलम्भ में हृदय के भावों की अभिव्यंजना पर। विद्यापति ने 'पदावली' में शृंगार रस के दोनों पक्षों का मार्मिक चित्राण किया है । संयोग-पक्ष के अन्तर्गत उन्होंने श्रीकृष्ण एवं राधा की चेष्टाओं और कार्य-व्यापारों की सम्यक योजना की है। इसमें

नायक-नायिका के नख-शिख-सौंदर्य, वयःसन्धि, यौवन, प्रेम, नोंकझोंक, सखी-शिक्षा, दूती, अभिसार, मान, मिलन, रति-क्रीड़ा, रासलीला आदिप्रसंगों का निरूपण हुआ है।

विद्यापति की राधा अधिकतर 'स्वकीया' के रूप में ही चित्रित हुई है, 'परंतु कुछ पद अवश्य ऐसे हैं जिनमें परकीया-भाव है।'

वयःसन्धि का जितना सुंदर चित्राण विद्यापति ने किया है, उतना कम ही कवियों से बन पाया है। किशोरावस्था और यौवन के सन्धिस्थल पर खड़ी नायिका के स्वभाव-परिवर्तन का कवि ने कितना सूक्ष्म निरीक्षण किया है-

'खने-खन नयन कोन अनुसरई।

खने खन वसन धूलि तनु भरई।।

खने खन दसन छटाछूट हास।

खने खन अधर, आगु गह बास।।

चउँकि चलए खने चलु मंद।

मनमथ पाठ पहिल अनुबंध।।

चेष्टाओं के वर्णन में कवि की दृष्टि सूक्ष्म से सूक्ष्म व्यापार तक जाने की है। 'आध' शब्द की पुनरुक्ति के द्वारा कवि ने मुग्धा नायिका का कितना सहज चित्र उकेरा है -

'आध आँचर खसि आध बदन हँसि, आधहि नयन तरग।

आध उरज हेरि, आध आँचर भरि, तब धरि दगध अनंग।'

शृंगार-वर्णन में नायिका के अलंकारों और हावों को भारतीय परंपरा में विशेष महत्त्व प्राप्त है। 'शृंगारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्' भी तो रूप-रसिक कवियों के लिए ही कहा गया है। विद्यापति इसके अपवाद नहीं हैं। उन्होंने नख-शिख वर्णन करते हुए नायिका के शरीर के ऊर्ध्व अंगों पर ही विशेष ध्यान दिया है। सबसे अधिक वर्णन उन्होंने स्तन का किया है। परंतु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि आलम्बन के सौंदर्य का बहिरंग वर्णन करने में विद्यापति का प्रयोजन पाठक के हृदय में वासना उद्दीप्त करना नहीं है, वे केवल उस अपूर्व सुषमा की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं। उनके वर्णन रसात्मक हैं, वासनात्मक नहीं।

विद्यापति ने नायिका के पयोधरां के सौंदर्य का अनेक स्थलां पर वर्णन किया है, जैसे -

'पहिल बदरि-सम पुन नवरंग।'

* * * * *

'रंग पयोधर अति भेल गोर। माजि धरल जनि कनय कटयार।'

* * * * *

'हाटक घटन सिरीफल सुंदर, कुचजुग कुटि करु आधे।'

* * * * *

'एके तनु गोरा कनक कटोरा, अतनु कांचला उपामा'

कृष्ण से राधा का सौंदर्य वर्णन करते समय दूती पहले उसके स्तनों, मुख और नेत्रों की ही प्रशंसा करती है -

'पीन पयोधर दूबरि गता। मेरु उपजल कनक-लता॥

मुख मनोहर अधर रंगे। फूलनि मधुरी कमल संगे॥

लोचन-जुगल भृंग अकारे। मधुक मातल उड़ए न पारे॥'

विद्यापति के वर्णन में चित्रात्मकता है। विद्यापति सौंदर्य-वर्णन में चित्रातत्त्व और नाद-तत्त्व दोनों का समुचित उपयोग करते हैं। बिहारी को चित्रा-तत्त्व में कुशल माना जाता है, परंतु विद्यापति इस कला में उनसे भी अधिक प्रवीण हैं। इस विशिष्टता का कारण है उनकी अनुभूति-प्रवणता। निस्संदेह बिहारी ने नायिका के सौंदर्य के जो चित्र अंकित किए हैं वे सुंदर हैं, आकर्षक हैं और चमत्कृत करनेवाले हैं; किन्तु उनमें वैसी संवेदनात्मकता नहीं, जैसी विद्यापति द्वारा प्रस्तुत शब्द-चित्रों में। बिहारी सौंदर्य-दर्शन में हृदय को उतना नहीं रमाते, जितना मस्तिष्क को चौंकाते हैं। विद्यापति की दृष्टि सीधे रूप पर न होकर हृदय के माध्यम से रूप पर रहती है। आवश्यक पीठिका से युक्त होने के कारण विद्यापति का बहिरंग-सौंदर्य-वर्णन अधिक रमणीय हो जाता है।

विद्यापति ने संयोग शृंगार के अन्तर्गत नायिका के मान का सुंदर चित्राण किया है। नायक (कन्हैया) किसी अन्य प्रेयसी के साथ रात बिताकर प्रातःकाल जब नायिका (राधा) के पास आता है, तब वह नायक के शरीर पर लगे कुछ चिन्हों को देखकर अपनी नारी-सुलभ सहज बुद्धि से नायक की चोरी पकड़ लेती है और उनसे मान करती हुई कहती है -

'माधव, चल-चल तन्हिं ठाम।

जसु पक-जावक हृदय क भूषन, अवहूँ जपत तसु नाम॥

कत चंदन कत मृगमद कुंकुम तुअ कपोल रहि लागि।

देखि सौत अनरूप कएल बिहि अतए मानिए बहु भागि॥

मानिनी नायिका का कोप किसी तरह शांत हो और वह नायक पर पुनः विश्वास कर सके, इसके लिए देखिए वह किस चतुराई से सौगंध खाता है -

"ये धनि मानिन, करह संजात।

तुअ वुफच हेम-घट हार-भृगंगिनि, ता क उपर धर हात।

तोहे छोड़ि जदि हम परसब कोय।

तुअ हस्-नागिनि काटब मोय॥"

शृंगार के दोनों पक्षों में विद्यापति ने संयोग को ही प्रमुखता दी है और उसी का विस्तार से चित्राण किया है। उनके संयोग-वर्णन की एक अनूठी विशेषता यह है कि वे स्थूल वर्णन में रस न लेकर नायक-नायिका को सूक्ष्म मधुर अनुभूतियों की ही व्यंजना करते हैं। दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने नायिका की उक्तियों के माध्यम से ही नायक की स्थूल काम-चेष्टाओं की व्यंजना कर दी है। इससे इनके वर्णन में शृंगार का रंग तो तेज हो गया, परंतु अश्लीलता नहीं आ पायी। यही कारण है कि इनके घोर शृंगारिक गीत भी वासना को नहीं भड़काते। संयोग-वर्णन की ऐसी अपूर्व कला विद्यापति में ही दिखायी देती है। वस्तुतः विद्यापति भोग के पड़े उत्कृष्ट कवि हैं। उन्होंने संयोग शृंगार का अत्यंत मादक, रंगीन चित्राण किया है। इसमें उनके काव्यशास्त्र, कामशास्त्र और मनोविज्ञान-संबंधी ज्ञान का परिचय मिलता है। उन्होंने कुंठहीन होकर प्रणय का स्वच्छंद, समीप और उल्लासमय निरूपण किया है। विद्यापति की 'पदावली' अपनी उन्मद शृंगारिकता के लिए सदा अमर रहेगी।

विद्यापति का वियोग शृंगार-वर्णन

विद्यापति का वियोग (विप्रलम्भ) शृंगार-वर्णन यद्यपि संयोग शृंगास्वर्णन के समान विशद नहीं है, परंतु सघनता और देवता की विवृति की उसमें कमी नहीं है। कुछ आलोचकों की जिनमें डॉ. रामवुफमार वर्मा भी एक हैं, यह मान्यता है कि विद्यापति वियोग शृंगार के चित्राण में उतने सफल नहीं हुए जितने कि संयोग शृंगार के चित्राण में । डॉ. वर्मा विद्यापति को बिहारी के समान हाटबाट का चित्राण करनेवाला ही समझते हैं। उनके अनुसार, 'विद्यापति ने अंतर्जगत् का उतना हृदयग्राही वर्णन नहीं किया, जितना बहिर्जगत् का' । परंतु विद्यापति ने मानक्स्वभाव और नर-नारी की सूक्ष्म मनोदशाओं को समझने का जो परिचय दिया है, उसको देखते हुए इस मान्यता से सहमत नहीं हुआ जा सकता । डॉ. आनन्द प्रकाश दीक्षित के शब्दों में "विद्यापति ने विरह का ऐसा मर्मस्पर्शी चित्राण किया है कि हृदय थामकर रह जाना पड़ता है। राधा की विरहानुभूति इतनी मार्मिक और हृदयद्रावक है कि पाठक भी भूल जाता है कि वह काव्यानन्द में मग्न है या प्रेमानन्द में।" वास्तव में शृंगार के अन्तर्गत आनेवाले सभी उद्दीपन विभावों और संचारी भावों का चित्राण विद्यापति में मिल जाएगा। शरद-चन्द्रमा, मलय-समीर, वासन्ती-ज्योत्सना, भ्रमर, चातक, मोर, कोकिल, दादुर, पावस, मेघ, कमल, जमुना-तट आदि वियोग और संयोग दोनों पक्षों के उद्दीपन विद्यापति के शृंगार में रसवर्धक होकर आए हैं । अनुभावों की तो गिनती ही नहीं हो सकती । विद्यापति में उनकी जो परिपूर्णता है हिंदी कवियों में कम ही देखने को मिलेगी । विद्यापति में निर्वेद, ग्लानि, शंका, भय, आलस्य, विषाद, चिन्ता, मोह, स्वप्न, बिबोध, स्मृति, उत्सुकता, दीनता, हर्ष, व्याधि, मरण, अपस्मार, आवेग, त्रास, उन्माद, जड़ता आदि संचारियों के अनेक उदाहरण भरे पड़े हैं।

पूर्वराग, मिलन के पूर्व प्रत्यक्ष-दर्शन, चित्रादर्शन, स्वप्न-दर्शन एवं गुण-श्रवण के कारण प्रेमोद्भव एवं तदुपरान्त (मिलनाकुलता) विप्रलम्भ शृंगार का प्रथम प्रकार है और करुण, विप्रलम्भ (मिलनोपरान्त चिरकालिक वियोग-दशा) उसका दूसरा प्रकार। विद्यापति ने पूर्वराग का चित्राण भी कलात्मक ढंग से किया है। 'पदावली' में प्रत्यक्ष-दर्शन तथा सखी द्वारा रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर ही नायक-नायिका के हृदय में प्रेमाकुंर उगा है । नायिका के शारीरिक सौंदर्य की प्रशंसा नायक में रूपलिप्सा जगा देती है और वह उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न-काम हो जाता है । दूती द्वारा किए इस रूप-वर्णन से नायक वृफष्ण के हृदय में राधा के प्रति पूर्वराग उत्पन्न हुआ

'पीन पयोधर दूगरि गाता, मेरु उपजल कनकलता ।

ए कान्हु ए कान्हु तोरि दोहाई, अति अपूरुब देखलि साई।।

उधर, कृष्ण की रूप-प्रशंसा को सुनकर राधा में भी पूर्वराग उत्पन्न हो जाता है और वह कृष्ण के मिलन के लिए आकुल हो उठती है -

"मन करे तहाँ उड़ि जाइअ जहाँ परि पाइअ रे।

प्रेम-परसमनि जानि आनि उर लाइअ रे ॥"

पूर्वराग की स्थिति में भी वियोग की नाजुक स्थिति उत्पन्न हो जाती है। दूती राधा की दशा का वर्णन इस प्रकार करती है -

" लोटइ धरनि, धरनि धरि सोइ, खने खन साँस खने खन रोइ।

खने खन मुरछइ वंफठ परान, इथि पर की गति दैव से जान ॥"

इसके अनन्तर, जब मिलन-सुख की परितृप्ति पा लेने पर कृष्ण के मथुरा-गमन से उत्पन्न कारण्योत्पादक विरह की स्थिति आती है तब विप्रलम्भजनित कायिक, वाचिक और सात्त्विक अनुभाव प्रकट होने लगते हैं। विद्यापति ने पूर्व वियोग की विभिन्न दशाओं का भी सुंदर चित्राण किया है।

विद्यापति का वियोग-वर्णन उनके संयोग-वर्णन से भी अधिक प्रभावुक और भव्य है। किन्तु, उनका विरह लौकिक विरह ही है, आध्यात्मिक नहीं। उसे रहस्यवाद की कोटि में ले जाना व्यर्थ की खींचतान है। नायक-नायिका की संयोग-दशा में वर्णित केलि विलास जैसे आत्म-परमात्मा के मिलन का चित्र उपस्थिति नहीं करते, वैसे नायक-नायिका (कृष्ण-राधा) के विरह-प्रसंग में वर्णित आकुल प्रतीक्षा और व्यथा की कसक को आत्मा-परमात्मा के साथ संबद्ध करना भी दूर की कौड़ी छानना है।

विद्यापति ने कृष्ण के विरह के विषय में भी कुछ गीत लिखे हैं, और इस प्रकार प्रेम को विषम होने से बचा लिया है। परंतु राधा की विरहानुभूति की भाँति कृष्ण के विरह में टीस नहीं है, न वैसी तल्लीनता ही। संस्कृत साहित्य में पुरुष के विरह में वेदना की न्यूनता नहीं पाई जाती ('मेघदूत' का विरही यक्ष उदाहरण है), किन्तु भाषा - काव्यों में नारी-विरह को ही प्रधानता मिली है।

यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि विप्रलम्भ शृंगार के चित्रण में विद्यापति ने भावप्रवणता और अनुभूति की तीव्रता एवं गहराई का अच्छा परिचय दिया है। राधा-विरह-संबंधी पदों में भावाभिव्यक्ति की सरलता, स्वाभाविकता और मर्मस्पर्शिता का निदर्शन हुआ है। राधा की

विरहजन्य कृशता और शारीरिक ताप का कुछ अतिरंजन वर्णन करने में उनका उद्देश्य उसकी हृदयगत व्यथा का चित्रण ही रहा है। सखी के माध्यम से अलग, जहाँ भी कवि ने राधा के मुख से विरहानुभूति का आत्म-निवेदन कराया है, जहाँ राधा का दैन्य, रोष, उपालम्भ व्यंजित हुआ है।

2.4.2 - विद्यापति के काव्य में भक्ति

विद्यापति को भक्त बतलाने वालों में अग्रणी हैं जार्ज अब्राहम ग्रियर्सन। उनका कथन है - "राधा और कृष्ण वस्तुतः प्रतीक हैं। राधा जीवात्मा से मिलन के लिए निरंतर प्रयत्नशील हैं। यह प्रयत्न तब तक अप्रतिहत रूप से चलता रहता है जब तक जीवात्मा परमात्मा में लय होकर सायुज्य लाभ नहीं कर लेता ... विद्यापति के काव्य में दूती गुरु का प्रतीक है। यह दूती जीवात्मा या प्रेमिका को निरंतर परमात्मा से मिलने के लिए प्रेरित करती रहती है। यही नहीं, इस अभिसार या प्रेम-मिलन के प्रत्येक कार्य में वह उसकी सहायता भी करती है।" अन्यत्र भी वे कहते हैं- "विद्यापति के पद लगभग सबके सब वैष्णव पद या भजन हैं ... जिस प्रकार सोलोमन के गीतों को ईसाई पादरी पढ़ा करते हैं, उसी प्रकार भक्त हिंदू विद्यापति के चमत्कारिक पदों को पढ़ते हैं और जरा भी कामवासना का अनुभव नहीं करते।" (ऐन इन्ट्रोडक्शन टु ए क्रेस्टोमैथी ऑफ दि मैथिली लैंग्युएज पृ. 36) ग्रियर्सन के मतानुसार, 'पदावली' में पूजक और पूज्यके प्रेम को राधा और कृष्ण का रूप दे दिया गया है।

विद्यापति की पदावली के संग्राहक, बंगीय विद्वान श्री नगेंद्रनाथ गुप्त का मत है कि, "विद्यापति की राधाकृष्ण-पदावली का सारांश यही है कि जीवात्मा परमात्मा को खोज रही है और एकांत स्थान में परमात्मा से मिलने के लिए चिंतित है। श्री गुप्त ने सारी पदावली को आध्यात्मिकतापूर्ण व्यंगार्थमय रचना घोषित किया है।" प्रसिद्ध विद्वान ए. के. वुफमार स्वामी ने 'सांग्स ऑफ विद्यापति' में लिखा है -"विद्यापति का काव्य गुलाब है गुलाब। यह आनंदनिवुंफज है। यहाँ हमें स्वर्ग के दर्शन होते हैं - वृंदावन की कृष्णलीला शाश्वत है। वृंदावन मनुष्य का हृदय-देश है। यमुना का किनारा इस संसार का प्रतीक है जो राधा और कृष्ण अर्थात जीव और ईश्वर की लीला-भूमि है। वंशी की आवाज अदृश्य सत्ता की आवाज है जीव के लिए परमात्मा की ओर अग्रसर होने का आह्वान है। "

डॉ. जनार्दन मिश्र ने कहा है कि "विद्यापति के समय में रहस्यवाद का मत जोरों पर था, उसके प्रभाव से बचकर निकलना और किसी अधिक निष्कंटक मार्ग का अनुसरण करना उन्हें

शायद अभीष्ट न था। अथवा अभीष्ट होने पर भी तुलसीदास की तरह अपने वातावरण के विरूद्ध जाने की शक्ति इनमें न थी। इसलिए स्त्री और पुरुष के रूप में जीवात्मा और परमात्मा की उपासना की जो धारा उमड़ रही थी, उसमें उन्होंने अपने को बहा दिया।" (विद्यापति, पृष्ठ - 47) मिश्र जी ने अपने मत की पुष्टि में विद्यापति का निम्न पद दिया है-

"एक दिन छलि नवनीत रे,

जल मिन जेहन पिरीत रे,

एकहिं वचन विच भेल रे,

हँसि पहु उतरो न देल रे,

एकहि पलंग पर कान्ह रे,

मोर लेख दूर देस भान रे।"

इस पद में उन्होंने पलंग को शरीर माना है और उस पर शयन कर रहे राधा-कृष्ण को जीवात्मा तथा परमात्मा। आत्मा के रूप में परमात्मा का निवास हृदय में रहता है, परंतु अज्ञानी जीव के लिए वह न जाने कितनी दूर प्रतीत होता है। मिश्र जी ने माना है कि इस पद में जीवात्मा के अहंकार और ग्लानि का चित्राण हुआ है। उनके मत में विद्यापति की पदावली आध्यात्मिक विचार तथा दार्शनिक गूढ़ रहस्यों से परिपूर्ण है।

जार्ज ग्रियर्सन, नगेंद्रनाथ गुप्त, वुफमार स्वामी और जनार्दन मिश्र आदि के उपर्युक्त कथनों से यह व्यक्त होता है कि विद्यापति का राधाकृष्ण-प्रेम-वर्णन रहस्यवादी है। बाबू श्यामसुंदर दास विद्यापति को वैष्णव साहित्य का प्रथम कवि मानते थे। उनके शब्दों में, "विद्यापति की रचनाएँ राधा और कृष्ण के पवित्रा प्रेम से ओतप्रोत हैं।"

डॉ. जयनाथ 'नलिन' ने विद्यापति को कृष्ण काव्य का सर्वप्रथम कवि मानते हुए कहा है - "कृष्ण-भक्ति-भागीरथी का उद्गम तलाश करने के लिए विभिन्न काव्य-काननों, विविध शैली-शिल्पों की घाटियों और गिरि-शिखरों को पार कर हम, जिस अमृत-मानस के तट पर पहुँचेंगे, वह है कवि विद्यापति का मानस। उस मानस में सौंदर्य, यौवन और प्रेम का अतल जल ठाठें मार रहा है; उसमें कृष्ण-भक्ति के स्वर्ण-सरोज खिल रहे हैं। आनंद की आवुफल वीचियाँ थिरक रही हैं।" (विद्यापति : एक तुलनात्मक समीक्षा, पृष्ठ - 287) वे विद्यापति के कुछ गीतों में प्रदर्शित आत्मग्लानि

और परिताप की भावना को निर्वेद (वैराग्य) -मूलक मानकर उसको शांत रस से संबंधित कर देते हैं। डॉ. नलिन विद्यापति के -

"माधव बहुत मिनित करि तोय।

देइ तुलसी तिल देह समर्पिलुँ दया जनि छाड़बि मोय।।"

और

'तातल सैकत वारि-बिंदु सम, सुत मित रमनि समाज।

तोहे विसारि मन ताहे समरपिनु , अब मझु हब कौन काज ।।

माधव हम परिनाम निरासा।

तुहु जगतारन दीन दयामय अतए तोहरि बिसवासा ।।

पदों में व्यक्त परिताप-भावना को साधनहीन, दीन भक्त का अपने आराध्य श्रीकृष्ण के चरणों में आत्म-समर्पण मानते हैं और कहते हैं - ''यहाँ विद्यापति श्रीकृष्ण को परब्रह्म मानते हैं । वह अवतार नहीं, अवतारी स्वयंरूप भगवान हैं । श्रीकृष्ण का यही रूप श्रीमद्भागवत, ब्रह्मवैवर्त्त पुराण, निम्बार्काचार्य, विष्णु स्वामी और श्री बल्लभाचार्य ने स्वीकार किया है। सूर आदि भक्तों ने इसी रूप को माना है ।" आगे वे लिखते हैं - "विद्यापति ने राधाकृष्ण की लीलाओं में एक ही पक्ष लिया है, वह है उनका शृंगार । 'कांताभाव' ही कृष्णभक्ति में सर्वापरि माना गया है, जैसा कि चैतन्य के शिष्य जीवगोस्वामी द्वारा लिखित 'भक्तिरसामृतसिंधु' में दिखाया गया है। विद्यापति ने इसी कांताभाव, राधाकृष्ण के रति-भाव का ही लीलागान किया है । तब तो उनकी भक्ति सर्वाच्च कोटि में आती है ....राधाकृष्ण के माधुर्य भाव का जो स्वरूप विद्यापति ने अपने गीतों में प्रस्तुत किया, भागवत और ब्रह्मवैवर्त्त द्वारा भी भक्ति का वही रूप आदर्श माना गया है।" (विद्यापति : एक तुलनात्मक समीक्षा, पृष्ठ - 211-12)

विद्यापति ने नीचे उद्धृत गीत में संसार की भीषण नदी से पार उतारने की याचना कृष्ण से एक गोपी के बहाने की है -

"कर धरु करु मोहि पारे, देब मैं अपरुप हारे, कन्हैया ।

सखि सभ तेजि गेली, न जानु कौन पथ भेली, कन्हैया ।।

हम न जाएब तुअ पासे, जाएब औघट घाटे, कन्हैया ।

विद्यापति एहो भाने, गूजरि भजु भगवाने, कन्हैया ।।"

उक्त विद्वानों ने विद्यापति को भक्त सिद्ध करने के पक्ष में जो तर्क दिए हैं उनसे यही निष्कर्ष निकलता है कि विद्यापति ने अपनी 'पदावली' में उद्दाम शृंगार के जो चित्रा अंकित किए हैं, उनको कांताभाव की भक्ति का स्वरूप मान लिया जाए और राधा-कृष्ण की प्रेम-लीला को जीवात्मा-परमात्मा के मिलन के रूप में देखा जाए। इस पर हम आगे विचार करेंगे कि ऐसा मानना क्यों संभव नहीं है।

विद्यापति की दृष्टि में शृंगार और भक्ति में से कोई भी उपेक्षणीय नहीं था । यह अवश्य रहा कि उन्होंने भक्ति में शृंगार और शृंगार में भक्ति को नहीं मिलाया। दोनों ही खालिस हैं, अमिश्रित । यों यदि वे मिलाते भी, तो कुछ अस्वाभाविक या अनुचित न होता। मध्यकालीन साहित्य में भक्ति और शृंगार दोनों ही अत्यंत प्रमुख प्रवृत्तियाँ हैं। डॉ. शिवप्रसाद सिंह के शब्दों में, "विद्यापति के काव्य के विषय में प्रायः शंकाएँ की जाती हैं कि यह रहस्यवादी काव्य है, या केवल शृंगार-प्रधान प्रेमकाव्य । भक्ति और शृंगार के विषय में हमारे मन में कुछ धारणाएँ बद्धमूल हो गई हैं । बहुत से लोग विद्यापति आदि के नख-शिख वर्णनों को देखकर इतने घबरा जाते हैं कि उन्हें इन कवियों की भक्ति-भावना पर ही अविश्वास होने लगता है ।... विद्यापति के काव्य को समझने के लिए तत्कालीन काव्य की मर्यादाओं को, नियमावलियों तथा कविजनोचित उस परंपरा को समझना होगा जो उन्हें विरासत के रूप में मिली थी ।" (विद्यापति, पृष्ठ - 88) वस्तुतः शृंगार भक्ति का विरोधी नहीं है।

2.5 - विद्यापति पदावली की काव्यगत वैशिष्टय

विद्यापति ने अपने पदों में युवा जीवन का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करते हुए राधा और कृष्ण के माध्यम से नायक-नायिका की प्रणय लीलाओं का वर्णन किया है । विद्यापति के इन पदों में युवा जीवन की मूलभूत भावना एवं काम-वासना आदि का स्वाभाविक अंकन हुआ है । विद्यापति के ऐसे पदों को वयः संधि वर्णन, नख-शिख-वर्णन, सद्यः स्नाता-वर्णन, प्रणय-केलि वर्णन, स्तुति-वर्णन और युद्धवर्णन आदि शीर्षकों में विभक्त किया जा सकता है ।

विद्यापति ने पदों में मनोरम चित्र अंकित किए हैं, जिनमें सहज स्वाभाविक चित्रण के साथ कवि की प्रौढ़ प्रतिभा एवं सूक्ष्म अनुभूति का सुंदर सम्मिश्रण दिखता है। विद्यापति ने नख-शिख वर्णन की परंपरा को भी आत्मसात करते हुए कई पदों में नख से शिख तक के सौंदर्य का प्रभावोत्पादक वर्णन किया है। एक अन्य विशेषता यह भी है कि न केवल नायिका अपितु नायक के अंग सौंदर्य को भी उन्होंने चित्रित किया है। सद्यः स्नाता वर्णन के चित्र संस्कृत काव्य में पर्याप्त मात्रा मिलते हैं, हिंदी में ऐसे चित्रणों का प्रारंभ विद्यापति से माना जा सकता है। विद्यापति ने राधा और कृष्ण के माध्यम से प्रणय लीलाओं का वर्णन किया है। इन चित्रों के अतिरिक्त तत्कालीन समाज की आस्तिकता, धार्मिक भावना, भक्ति आदि का भी वर्णन, विद्यापति की पदावलियों में प्राप्त होता है। शिव, विष्णु, दुर्गा, सरस्वती, जानकी और कहीं गंगा की प्रार्थना एवं भक्ति आस्था से प्रेरित पद भी प्राप्त होते हैं। भक्ति आस्थापरक पदों का गायन आज भी मिथिला के गाँवों में प्रचलित है। पदो में तत्कालीन लोकाचार के साथ-साथ मैथिल समाज में व्याप्त भक्ति भावना एवं दार्शनिक विचारधारा का परिचय प्राप्त होता है। वीरगाथामयी प्रवृतियों का अनुसरण युद्ध वर्णन संबंधीविद्यापति के पदों में मिलता है। विद्यापति की पदावली में विविधता है किंतु उसका अधिकांश भाग शृंगार एवं प्रेम से परिपूर्ण पदों से ही भरा है। आंतरिक जगत की अपेक्षा बाह्य जगत का चित्रण अधिक हुआ है। अधिकतर पदों में रूप, अभिसार और मिलन का बहुरंगी-चित्रण है।

शृंगार-रस - विद्यापति शृंगार के कवि है। इन्होंने शृंगार के संयोग व वियोग दोनों पक्षों का चित्रण किया हैं इन्होंने राधा-कृष्ण के माध्यम से अपनी वाणी कही है। इनमें भी कवि संयोग पक्ष का अधिक चित्रण किया हैं। डॉ. रामकुमार वर्मा के अनुसार, ''विद्यापति का संसार ही दूसरा है... शरीर में सौंदर्य के सिवाय कुछ भी नहीं है... यौवन शरीर के आनंद ही उसके आनंद हैं? इनके राधाकृष्ण अपार सौंदर्य के स्वामी है। राधा की सुंदरता के सामने करोड़ों कामदेव हीन हैः

"देख-देख राधा रूप अपार।

अपरूप के विहि आनि मिला ओत्र, खितितल लाब्रनि-सार।।"

कवि ने संयोग में सखी शिक्षा का अद्भुत चित्रण है। वह वियोग व संयोग-दोनों स्थितियों में नायक-नायिका को शिक्षा देती हुई दिखाई देती है। वियोग में राधा कृष्ण के प्रवास की पीड़ा को अनुभव करती है उसे प्रिय के बिना अपने जीवन व यौवन की निस्सारता प्रतीत होती है।

'सरसिज बिनु सर सर बिनु सरसिज,

की सरासिज बिनु सूरे।

जीवन बिनु तन तन बिनु जीवन

की यौवन पिय दूरे।

भक्तिभावना - कवि ने कुछ पद भक्तिभावना के भी लिखें है। इन्होंने राधा-कृष्ण, सीता-राम, शिव-शक्ति, गंगा, भैरवी, गणेश आदि देवताओं की स्तुति की है। उन्होंने ईश्वर से मुक्ति की कामना की है। इनकी भक्तिभावना में प्रभु के प्रति समपर्ण व तन्मयता का भाव है।

"तुअ पद पल्लव करि अवलंबन, तिल एक देह दीन बंधु ।"

सौंदर्याचित्रण - विद्यापति सौंदर्य के सच्चे सर्जक, आराधक थे। ये सौंदर्य में खूब रमे थे और सौंदर्य की सजलता ने उनके मन व प्राणों को सरसित कर रखा था। इन्होने वयःसंधि, सद्यःस्नाता, नखाशिख, मिलन व प्रकृति चित्रण के सौदर्य का अद्भुत वर्णन किया है। उनके अनुसार, सौंदर्य शाश्वत व सत्य है उन्होंने राधा के माध्यम से सौंदर्य का आश्चर्यजनक वर्णन किया है। राधा की सुंदरता के विषय में सखीं कहती हैः

'ए कान्ह ए कान्हु तोर दोराई ।

अति अपूरब देखल साई।'

कवि ने प्रकृति चित्रण आलंबन व उद्दीपन के रूप में किया है।

गीतात्मकता -विद्यापति ने जिस संगीतरूपसी की रचना की, वह सारे संसार का चित चुराने में सफल रही। कवि को हिंदी गीतिकाव्य परंपरा का प्रवर्तक माना जाता है। उनके सारे पद रागों में गाए जा सकते हैं इनक में वैयक्तिकता, काल्पनिकता, भावकुता, शैली की सुकुमारता, संक्षिप्तता, संगीतात्मकता,रागात्मकता सर्वत्र विद्यमान हैं। इन्होंने कोमलकांत पदावली का प्रयोग किया है।

"डम डस डम्फ दिमिक प्रिमि मादल, रूनु झुनु मंजीर बोल।

किंकिनी रननि बलआ कनकनि, निधु बने रास तुमुल अतरोल ।"

भाषाशैली - विद्यापति ने संस्कृत, अवहट व मैथिली में साहित्य-सर्जना की । उनके समस्त गीत जो उनकी कीर्तिपताका है; मैथिली में हैं। इस भाषा को इन्होंने अलंकारों, बिंबो, सूक्तियों, लोकोक्तियों, मुहावरे आदि सेशक्ति सम्पन्न बनाया हैं जैसे-

क - 'दुःख सहि-सहि सुख पाओल।

ख - 'वानर मुँह न सोभय पान।

इन्होंने शब्दालंकारों व अर्थालंकारों का सहज प्रयोग किया है । इन्होंने उपमा, अनुप्रास, यमक, अतिश्योक्ति, उत्प्रेक्षा, दृष्टांत, रूपक आदि अलंकारों का सर्वाधिक प्रयोग किया है किया है जैसे- यमक- सारंग नयन बयन पुनि सारंग, सारंग जसु समधाने।

सारंग ऊपर उगल दस सारंग के लिए कराधि मधुपाने।।'

उपमा- पहिल बदरि सम पुन नवरंग ।

वास्तव में विद्यापति की भाषा नवगति, लय, ताल व प्रकाश से प्रस्फुरित है।

2.6 - सौंदर्य चेतना : प्राकृतिक सौंदर्य

विद्यापति सौन्दर्योपासक कवि थे। सौंदर्य को उन्होंने देखा था, अनुभव किया था। वे सौंदर्य के वायवी रूप के प्रति आकृष्ट होने वाले रहस्यवादी कवि नहीं थे, वे सौंदर्य को बिलकुल साक्षात स्थूल रूप में देखने के अभ्यासी थे। सौंदर्य उनके लिये सबसे बड़ा धर्म है, सबसे बड़ा कर्म। सौंदर्य उनकी आंखो के सामने नाना रूपों में आता है, और विद्यापति सौंदर्य के स्वागत में निरंतर जागरूक दिखाई पड़ते हैं।

यह सौंदर्य कैसा है? जिसके स्वागत में विद्यापति निरंतर जागरूक है। हमारे विवेचन का मुख्य आधार विद्यापति पदावली के पदों पर आप गौर करें तो आप पायेंगे कि विद्यापति के सौंदर्य चित्रण का पक्ष एकांगी नहीं है। प्रकृति, मानव और परिवेश और इनके बीच रिश्ते से बनने वाले जीवन, सभी का सौंदर्य विद्यापति के पदों में घनीभूत हो उठा है। प्रकृति और मानवीय रूप सौंदर्य के उपादान है। सौंदर्यपरक रचनाओं का मुख्य क्षेत्र भी यही हैं। अतः कवि विद्यापति की कविताओं का विषय यह उपादान है लेकिन विद्यापति ने इनके बीच ही मानव समाज विशेषकर उस समाज के जिसमें वे रहते थे के जीवन सौंदर्य को भी कविताओं में चित्रित किया है।

सौंदर्य चेतना का एक स्रोत रस भी है। रस के माध्यम से ही सौंदर्य ग्रहण भी होता है। विद्यापति शृंगार रस के सिद्ध वाक कवि हैं। इसलिये आइये हम पहले शृंगार के प्रसंग में विद्यापति की सौंदर्य चेतना पर विचार करते हैं. शृंगार के लिये आवश्यक है आलंबन और आश्रय आलंबन को

देखने के बाद आश्रय में प्रेम जगता है जिसे संचारी भाव प्रगाढ़ करते हैं और आकर्षण का मुख्य कारण आलंबन का रूप सौंदर्य है। विद्यापति ने अपने नायक- नायिका राधा और कृष्ण के रूप का अत्यंत मनोहारी वर्णन किया है जो आश्रय को लुभाता ही है पाठकों को भी लुभाता है।

विद्यापति की राधा अपूर्व सुंदरी हैं जिसको विधाता ने पृथ्वी के लावण्य के अंश को लेकर रचा है और जिसको देखते है कवि का मन अधीर हो जाता है और उन के चरन तल में कितनी ही लक्ष्मी न्योछावर कर देना चाहते हैं और इतने विभोर हैं कि उनकी अभिलाषा होती है कि वे इस पद कमल को दिन रात अगोर कर रखें -

देख देख राधा रूप अपार।

अपरूब के बिहि आनि मेराओल खित-तल लावनि सार॥

अंगहि अंग अनंग मुरछाएत हेरए पड़ए अथीर।

मनमथ कोटि-मथन करू जे जन से हेरि महि-मधि गीर॥

कत-कत लखिमि चरन तल नेओछये रंगिनि हेरि बिभोरि।

करु अभिलाख मनहि पदपंकज अहिनसि कोर अगोरि॥

राधा के रूप वर्णन में विद्यापति ने अत्यंत रूचि ली है. शैशव से यौवनास्था के विकास के क्रम में शरीर में होने वाले परिवर्तनों को तो दर्ज किया है, जिसमें अत्यंत मांसलता है और वर्णन अत्यंत प्रकृतवादी हो जाता है लेकिन सौंदर्य वर्णन इसलिये विलक्षण हो उठता है क्योंकि वय परिवर्तन की अवस्था में राधा के मनोभावों को प्रकट किया गया है, सौंदर्य केवल उपस्थिति नहीं है वह उसके प्रकटीकरण में भी है कि वह किस तरह प्रकट होता है तब उसके प्रति कवि का ध्यान जाता है -
"खने-खने नयन कोन अनुसरई,खने-खने-बसन-घूलि तनु भरई॥

खने-खने दसन छुटा हास, खने-खने अधर आगे करु बास॥

चऊंकि चलए खने-खने चलु मंद, मनमथ पाठ पहिल अनुबंध॥

हिर्दय-मुकुल हेरि हेरि थोर, खने आंचर देअ खने होए भोर॥

बाला सैसव तारुन भेट, लखए न पारिअ जेठ कनेठ॥

विद्यापति कह सुन बर कान, तरुनिम सैसव चिन्हए न जान ॥"

एक ही शब्दों की आवृति (जैसे खने, हेरि) से विद्यापति ने पद में ही सौंदर्य नही रचा राधा के निश्छल सौंदर्य की भी व्यंजना की है. राधा ऐसी निश्छल है कि वह अपने आयु में परिवर्तन के इस चिह्न को नहीं पहचान पा रही है और इस दशा में अपने शरीर की भाव भंगिमा को भी नियंत्रित नहीं कर पा रही है। उसके स्वाभाव में एक विचलन आ गया है जो उम्र के वय संधि की वजह से है। विद्यापति ने इस आयुगत मनोभाव को खूब पकड़ा है ।

विद्यापति केवल राधा के ही नहीं कृष्ण पर भी मुग्ध हैं । वह कृष्ण की उपमा चंदन, चंद्रमा, मणि, स्वर्ण इत्यादि से करते हुए किसी को उनके योग्य नहीं पाते । कृष्ण की मानवीय छवि स्वप्न पुरूषों की है जिसे देख कर राधा चकित है.

ए सखि पेखलि एक अपरूप । सुनईत मानब सपन-सरूप ॥

कमल जुगल पर चांदक माला । तापर उपजल तरुन तमाला ॥

तापर बेढ़लि बीजुरि-लता । कालिंदी तट धिरें धिरें जाता ॥

साखा-सिखर सुधाकर पांति। ताहि नब पल्लब अरुनिम कांति ॥

बिमल बिंबफल जुगल विकास । तापर कीर थीर करु बास ॥

तापर चंचल खंजन –मोर। तापर सांपिनी झांपल मोर॥

ए सखि रंगिन्नि कहल निसान । हैरैत पुनि मोर भेल गेआन ॥

कवि विद्यापति एह रस भान । सुपुरूख मरम तोहें बलि जान ॥

विद्यापति अक्सर इस पछतावे में रहते हैं कि उन्होंने रूप को जी भर कर नहीं देखा । कुछ न कुछ उनसे छुटता ही रहता है। उन्होंने जीवन भर रूप का पान किया है लेकिन फिर भी उनका मन तृप्त नहीं हुआ। आखिर कैसे हो सकता है! यह कवि विद्यापति के नेत्र हैं जो जीवन के सुंदरतम रूप के संधान में रहते हैं और उनको अपनी कविता में प्रकाशित करते रहते हैं। विद्यापति के काव्य में सौंदर्य केवल जीवन के सुखद पक्ष से जुड़ा नहीं है बल्कि जीवन के कठिनतम क्षण को भी अपनी कविता में 'सुन्दर' रूप में पेश करते हैं जो भावक के हृदय में पिड़ा का संचार करता हैसाथ ही अपने सामाजिक पक्ष को भी उजागर करते हैं ।

निराला ने लिखा है कि 'विद्यापति सौंदर्य के श्रष्टा भी जबरदस्त थे और सौंदर्य में तन्मय हो जाने की शक्ति भी उनकी अलौकिक थी। कवि की यह बहुत बड़ी शक्ति है कि वह विषय से अपनी सत्ता को पृथक रख कर उसका विश्लेषण भी करे और अपनी इच्छानुसार उसमें मिलकर एक भी हो जाए'।

विद्यापति की सौंदर्य चेतना का एक स्रोत मनुष्य और उसका जीवन है तो एक स्रोत प्रकृति है जिससे मनुष्य सबंधित है और अपने भावों को एकाकार करता है। विद्यापति ने काव्य की कई रूढ़ियों से प्रकृति का वर्णन किया है लेकिन उनका सौंदर्य अधिक मुखर वहाँ हुआ है जब प्रकृति का रूप मनुष्य के भावों के साम्य और वैपरित्य में आकार लेने लगता है। प्रकृति वर्णन का यह चित्र अनूठा है जिसमें मनुष्य के भावों के प्रतिकुल प्रकृति अवसर बना देती हो। प्रेमिका के संकेत से प्रेमी उससे मिलने के लिए निकल पड़ा है लेकिन अब प्रकृति ने ऐसा मौसम उपस्थित किया है कि प्रेमिका का घर से निकलना कठिन हो रहा है। यहां विद्यापति ने प्रकृति के विषम रूप से मिलन को आतुर प्रेमिका के हृदय की साम्यता करा कर मनुष्य के मनोभाव के सौंदर्य को उजागर किया है।

2.6.1 - प्राकृतिक सौंदर्य

प्रकृति मनुष्य की चिर सहचरी है। वह युगों-युगों से मानव जीवन को विविध रूपों में प्रभावित करती आ रही है, और करती रहेगी। वह मनुष्य की सौंदर्य-चेतना को जगाती है और उसकी सुख-दःखात्मक भावनाओं को उत्प्रेरित करती है। वह मनुष्य के साथ हँसती है, रोती है। काव्य में प्रकृति का चित्राण दो रूपों में होता आया है - आलम्बन या वर्ण्य-विषय के रूप में और उद्दीपन के रूप में। आदिकवि वाल्मीकि ने 'रामायण' में प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण किया है। 'ऋतु संहार' में कालिदास ने भी एक सीमा तक ऐसा ही किया है। उसमें प्रकृति मानवीय रति-भाव की उद्दीपन-मात्रा बनकर नहीं रह गई है, परंतु वस्तुओंके वर्णन में रूढ़ि-पालन की प्रवृत्ति झलकती है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है कि 'कालिदास के समय से या उसके कुछ पहले से ही दृश्य-वर्णन के संबंध में कवियों ने दो मार्ग निकाले। स्थल-वर्णन में तो वस्तु-वर्णन की सूक्ष्मता कुछ दिनों तक वैसी ही बनी रही, पर ऋतु-वर्णन में चित्राण उतना आवश्यक नहीं समझा गया, जितना कुछ इनी-गिनी वस्तुओं का कथन-मात्रा करके भावों के उद्दीपन का वर्णन। जान पड़ता है कि ऋतु वर्णन वैसे ही फुटकल पद्यों के रूप में पढ़े जाने लगे जैसे 'बारहमासा' पढ़ा जाता है।

विद्यापति के काव्य में प्रकृति-वर्णन दो रूपों में हुआ है - आलम्बन या वर्ण्यवस्तु के रूप में उद्दीपन के रूप में। आलम्बन के रूप में वर्णन करते समय, कवि ने किसी ऋतु या प्रकृति के

किसी विशिष्ट रूप का चित्रण प्रकृति को एक स्वतंत्र सत्ता मानते हुए किया है। उदाहरण के लिए, कवि ने वसंत का स्वतंत्रचित्राण किया है - उसे कहीं शिशु के रूप में दिखाया है, कहीं युवक के रूप में, कहीं दूल्हे के रूप में और कहीं राजा के रूप में। इन वर्णनों में कवि ने प्रकृति को मानवीय भावनाओं के संकेत पर थिरकनेवाली नर्त्तकी तो नहीं बनाया, परंतु अपने सौंदर्य और सुषमाके कारण वह किसी-न-किसी रूप में मानव-हृदय को उत्पुफल्ल करनेवाली शक्ति जरूर बनी है। सच तो यह है कि प्रकृति का आलम्बनगत चित्रण भी मानव-संवेदना से निरपेक्ष नहीं रह सकता। यदि प्रकृति का कोमल या उग्र रूप, सुंदर या बीभत्स रूप अपनी स्वतंत्र सत्ता भी रखे, तो भी काव्य-विषय बनने पर वह कवि की अपनी रुचि, संस्कार, भावना और दृष्टि से एकदम अछूता कैसे रह पाएगा? यदि प्रकृति के सौंदर्य को देखकर मनुष्य का हृदय प्रसन्न हुआ, तो वह प्रकृति के लिए उन्ही विशेषणों का प्रयोग करेगा, जो उसे रुचते हैं। इस तरह भी प्रकृति का स्वतंत्र चित्रण मानवीय संवेदना से जुड़ जाता है।

विद्यापति ने वसंत-वर्णन में जैसा उल्लास व्यक्त किया है, उसे देखकर लगता है कि कवि का मन प्रकृति के प्रति स्वाभाविक रूप से आकर्षित हुआ है। कवि ने शिशु-रूप में वसंत के जन्म का कितना सुंदर रूपक बाँधा है -

"माघ मांस सिरि पंचमी गँजाइलि, नवम मास पंचम हरुआई।

अति घन पीड़ा दुख बड़ पाओल, वनस्पति भेलि घाई हे॥

सुभ खन वेरा सुवुफल पक्ख हे, दिनकर उदित-समाई।

सोरह सम्पुन बतिस लखन सह, जनम लेल इतुराई हे॥

* * * *

पीअरि पांडरि महुअरि गावए, काहरकार धतूरा।

नागेसर-क सखि धूनि पूर, तकर ताल समतूरा॥" इत्यादि

इन वर्णनों में प्रकृति को मानवीय रूप में देखने की कवि की रुझान का परिचय मिलता है। इनसे यह भी प्रकट होता कि कवि लोकजीवन के आचार-व्यवहार और संस्कारों से कितना अधिक परिचित है।

विद्यापति ने बारहमासा पद्धति के द्वारा भी प्रकृति सौंदर्य का वर्णन किया है। उनके बारहमासा का आरंभ आषाढ़ मास से होता है। प्रकृत और अपभ्रंश काव्यों में वर्णित अधिकांश

बारहमासों का आरंभ इसी मास से हुआ है। जायसी ने भी 'पद्मावत' में नागमती विरह-वर्णन के प्रसंग में आषाढ़ से ही बारहमासा शुरू किया है। 'पद्मावत' में बारहमासा जितना विस्तृत और मार्मिक है, उतना 'पदावली' में नहीं, फिर भी 'पदावली' के बारहमासे में अनलंकृति और स्वाभाविकता अधिक है। आकाश मेघाच्छन्न हो उठा है, नायिका का प्रियतम उसे छोड़कर किस दूर देश में चला गया है और वह ऐसी ऋतु में अपने को निरवलम्ब पा रही है, उसे उसका अता-पता चल जाता, तो वह जोगिन के रूप में वहाँ जा पहुँचती -

"मास आषाढ़ उनत नव मेघ, पिया बिसलेख रहओं निरथेघ।

कौन पुरुष सखि कौन से देस, करब मोयँ तहाँ जोगिनी भेस।"

विद्यापति ने प्रकृति का आलंकारिक चित्राण मुख्यतः नायक-नायिका के नख-शिख वर्णन में किया है। निम्नलिखित पद में कवि ने नायिका की देह के विभिन्न अंगों की शोभा को प्राकृतिक वस्तुओं के प्रतीकों द्वारा व्यक्त किया है -

"कि अरे! नव जौवन अभिरामा।

जत देखल, तत कहए न पारिअ, छओ अनुपम एक ठामा॥

हरिन, इंदु, अरबिंद, करिनि, हेम, पिक बूझल अनुमानी।

नयन, बदन, परिमल, गति, तन-रुचि अओ अति सुललित बानी॥

कुच जुग परसि चिवुफर पुफज पसरल, ता अरुझायल हारा।

जनि मेरु उफपर मिलि उफगल, चाँद-बिहिनु सब तारा॥" इत्यादि

इस पद में उत्प्रेक्षा और व्यतिरेक अलंकारों के प्रयोग द्वारा कवि ने नायिका के अंगों के साथ प्राकृतिक उपादानों का आलंकारिक प्रयोग किया है।

विद्यापति के काव्य में प्रकृति का वर्णन आलम्बन और उद्दीपन -दो ही रूपों में मिलता है, परंतु संयोग-पक्ष में कवि ने प्रकृति के उपादानों का अधिक सहयोग लिया है। वियोग-पक्ष में कम। जो प्रकृति चाँदनी रातों में, वसंत की मधुरिमा, पुष्पों की सुगंध और भ्रमरों की गुंजार से संयोगिनी नायिका को हुलसाती-उमगाती है, वही प्रकृति बदली हुई परिस्थितियों में विरहिणी नायिका को कितने ही रूपों में सताती-तड़पाती है। दोनों ही स्थितियों में कवि विद्यापति का प्रकृति-प्रेम अक्षुण्ण रहा है।

प्रकृति का उद्दीपन रूप में वर्णन काव्य-परंपरा का विषय बन गया था, अतः विद्यापति ने उस पद्धति को अपनाया; राजाश्रय में रहने के कारण भी उनके लिए यह आवश्यक हो उठा। रीतिकाल के कवियों को भी ऐसी परिस्थिति से गुजरना पड़ा था और उनके काव्य में भी प्रकृति मुख्यतः उद्दीपन-रूप में ही आई, किंतु विद्यापति और उनमें एक बड़ा अंतर यह है कि रीतिकालीन कवि जहाँ प्रकृति-प्रेमी नहीं, वहाँ विद्यापति प्रकृति के सच्चे आराधक हैं। उन्होंने प्रकृति-प्रेम के दर्पण में नायिका के सौंदर्य, उसके संयोग और उसके वियोग के दर्शन किए।

2.6.2 - शृंगारिक सौंदर्य

पदावली के अधिकांश पदों के आधार पर अधिकतर विद्वान विद्यापति को शृंगारी कवि ही मानते हैं। उनकी कविता का मूल उद्देश्य शृंगारिक भावों की अभिव्यक्ति था। शृंगार का जैसा रमणीय वर्णन उन्होंने किया है, अन्यत्रा दुर्लभ है। पदावली में भी कृष्ण कामी नायक तथा राधा मुग्ध नायिका के रूप में ही चित्रित हुए हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि विद्यापति की राधा-कृष्ण भक्ति रीतिकालीन कवियों की राधा-कृष्ण भक्ति - 'सुमिरन को बहानों' के समान है। उसमें वासना का शृंगरिक रूप अधिक प्रधान है। उनकी पदावली में शृंगार की भावना अधिक व्यक्त हुई है। कवि ने शृंगार के सभी भाव, अनुभाव तथा संचारी भावों का सुंदरता से वर्णन किया है। विद्यापति ने राधा के जो चित्रा खींचे हैं, उनमें वासना का रंग ही प्रखर है। आराध्या के प्रति जो विचार होने चाहिए, वह उनमें लेश-मात्रा भी नहीं। राधा को मुग्धा, विदग्धा एवं प्रोषितपतिका के रूप में दिखाया गया है। ऐसे पदों में आनन्द ही उद्देश्य है, और सौंदर्य कार्य-कलाप। कवि की कविता शृंगार और विकास की वस्तु है, उपासना एवं साधना की नहीं।

कवि ने मांसल सौदंर्य की अभिव्यक्ति की है एवं एक-दूसरे के प्रति वासना-निमग्न भी दिखाया है। इसी आधार पर विद्वानों ने विद्यापति को भक्त नहीं अपितु शृंगारी कवि माना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, रामकुमार वर्मा, रामवृक्ष बेनीपुरी जैसे विद्वान विद्यापति को शुद्ध शृंगारी कवि का दर्ज़ा देते हैं। नख-शिख सौंदर्य मिलन की आकांक्षा, काम-केलि, संयोग-वियोग वर्णन एवं पूर्वघटित प्रेम-लीलाओं की वियोग काल में स्मृति 'पदावली' के मुख्य वर्ण्य विषय हैं। विद्यापति की पदावली के संबंध मेंआचार्य रामचन्द्र शुक्ल का मानना था कि 'विद्यापति के पद अधिकतर शृंगार के ही हैं, जिनमें नायिका और नायक राधा-कृष्ण हैं। कुछ विद्वानों ने विद्यापति के पदों को वैष्णवभक्ति से

ओत-प्रोत कहकर उनमें रहस्यवाद की प्रवृत्ति की प्रधानता भी खोज निकाली थी। ऐसे विद्वान राधा-कृष्ण के रूप में जीवात्मा एवं परमात्मा के मिलन एवं विरह की झाँकी देखते हैं। पं. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र विद्यापति को शृंगारी कवि मानते हैं, उन्होंने लिखा है कि विद्यापति ने हिंदी में जन-भाषा में, शृंगारिक रस के क्षेत्र के लिए मर्यादा बाँधकर चाहे कृष्ण भक्त कवियों का उपकार न किया हो पर शृंगार काल के कवियों के लिए वे बहुत बड़ा उपकार कर गए। विद्यापति का काव्य-भक्ति काव्य है या नहीं, इस पर बहुत वाद-विवाद हुआ है। इस संबंध में इतना ही कहना है कि विद्यापति का कृष्ण काव्य सूरदास का या अन्य कृष्ण भक्त कवियों का सा कृष्ण काव्य नहीं है। यह यदि भक्ति काव्य माना भी जा सकता है तो वैसा ही जैसा बिहारी का, पद्माकर का था। विद्यापति की पदावली के आधार पर हिन्दी विद्वानों के मत भिन्न थे। पदावली में भाव-वर्णन अत्यधिक सशक्त है। शुद्ध शृंगार वर्णन में संयोग के मादक चित्रों का जैसा आधिक्य है वैसा ही वियोग व्यथा के चित्र हृदय की तरलता के सम्मिश्रण के साथ प्रस्तुत हुए हैं। सौंदर्य के प्रति आसक्ति और प्रेमानुभूति की सहज प्रवृतियों को विद्यापति ने जिस ढंग से चित्रित किया है वह अपूर्व है। इसमें संदेह नहीं कि उनकी पदशैली ने न केवल जनमानस को आकर्षित किया, अपितु राधा-कृष्ण की प्रेम लीलाओं का गान करने वाले पश्चातवर्ती कवि भी उससे प्रभावित हुए बिना न रह सके।

अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि विद्यापति शृंगार-रस के कवि थे। उन्हें मानवीय हृदय के भावों और उनके क्रमिक विकास का पूर्ण ज्ञान प्राप्त था। उनकी रचनाएँ माधुर्य-भाव से परिपूर्ण हैं। कवि ने राधा-कृष्ण के रूप में सामान्य नायक-नायिका का ही केलि-वर्णन प्रस्तुत किया है। विद्यापति के पदों में शृंगार के आलंबन रूप राधा और कृष्ण हैं। इन पदों में नख-शिख वर्णन, सद्यः स्नाता, क्यः-संधि, मान, मिलन, सखीशिक्षा तथा अभिसार-रूपों से संबंधित पारस्परिक प्रेम-भावना की सच्ची अनुभूति हुई है। विद्यापति के पदों में ऐसे समस्त रूपमांसलता, मादकता तथा ऐन्द्रिकता के सुखातिरेक के ही पारावार लहराते रहते हैं।

2.6.3 प्रेम संबंधी सौंदर्य

विद्यापति का काव्य प्रेम का काव्य है। प्रेम का मूल प्रेरक तत्व है. सौंदर्य। सौंदर्य का आश्रय है - यौवन। यौवन और सौंदर्य का समन्वित रूप ही प्रेम या रति है। सौंदर्य इन्द्रियों के माध्यम से उतरकर देखनेवाले के मन पर प्रभाव छोड़ता है। सौंदर्य दो तरह के हैं - बाह्य और अंतः। विद्यापति इन दोनों के वर्णन में कुशल हैं। विद्यापति की पदावली में भक्ति और शृंगार दोनों हैए लेकिन परिमाण

के स्तर पर शृंगारिक पद ही ज्यादा है।निराला ने पदावली की मादकता को ष्नागिन की लहरष् कहा है।इसमें राधा और कृष्ण के प्रेम तथा उनके अपूर्व सौंदर्य चित्रों की भरमार है।पदावली का केन्द्रीय विषय प्रेम और सौंदर्य है। इन पदों में माधवए राधाए कृष्णए कन्हाईए गिरिधर आदि नाम आए हैंए लेकिन ये प्रतीक मात्र है। अंतर्वस्तु के धरातल पर विद्यापति की नायक.नायिका किसी पारलौकिक ईश्वरीय सत्ता का प्रतिनिधि न होकर ठेठ मिथिला समाज के साधारण युवक औरयुवतीहै। धर्मसत्ता और राजसत्ता के गलियारे से कवि संवेदना को सुरक्षित निकालकर वे लोक से जुड़ते हैं। लोक से जुड़ने के क्रम में वे सामान्य युवती के सौंदर्य काए उसके लज्जाशील क्रिया व्यापारों का उसके सहज चपलता का बारीकी से चित्रण करते हैं।

विद्यापति के प्रेम सौंदर्य के वर्णन में चित्रात्मकता है। विद्यापति प्रेम सौंदर्य-वर्णन में चित्रातत्त्व और नाद-तत्त्व दोनों का समुचित उपयोग करते हैं। बिहारी को चित्रा-तत्त्व में कुशल माना जाता है, परंतु विद्यापति इस कला में उनसे भी अधिक प्रवीण हैं। इस विशिष्टता का कारण है उनकी अनुभूत्तिप्रवणता। निस्संदेह बिहारी ने नायिका के सौंदर्य के जो चित्र अंकित किए हैं वे सुंदर हैं, आकर्षक हैं और चमत्कृत करनेवाले हैं; किन्तु उनमें वैसी संवेदनात्मकता नहीं जैसी विद्यापति द्वारा प्रस्तुत शब्द-चित्रों में। बिहारी सौंदर्य-दर्शन में हृदय को उतना नहीं रमाते, जितना मस्तिष्क को चौंकाते हैं। विद्यापति की दृष्टि सीधे रूप पर न होकर हृदय के माध्यम से रूप पर रहती है। आवश्यक पीठिका से युक्त होने के कारण विद्यापति का बहिरंग-सौंदर्य-वर्णन अधिक रमणीय हो जाता है।

नायिका के हृदय में प्रेम का क्रमिक विकास किस प्रकार होता है, इसका चित्राण भी विद्यापति ने कुशलता से किया है। उनका प्रत्येक पद इस दृष्टि से रस की छलकती गागर है। नायिका को भरपूर देख न पाने की नायक की अतृप्ति निम्न पंक्तियां में व्यक्त हो रही है-

"सजनी, भल कए पेखल न भेल।

मेघ-माल सयँ तड़ित-लता जनि, हिरदय सेल दई गेल ।।

आध आँचर-खसि, आध बदन हसि, आधहि नयन तरंग।

आध उरज हेरि, आध आँचर भरि, तब धरि दगधे अनंग ।।"

राधा-कृष्ण प्रेम में परस्पर मिलन के लिए कितने उत्कंठित रहते हैं और एक-दूसरे वेफ लिए कितने आतुर, प्रतीक्षारत रहते हैं, इसका चित्राण भी कवि ने किया है। कृष्ण की मिलन-उत्कंठा देखिए -

"नन्द क नन्दन कदंब क तरु-तर, घिरे-घिरे मुरलि बजाव।

समय संकेत-निकेतन बइसल, बेरि-बेरि बोलि पठाव ॥

सामरि, तोरा लागि अनुखन विकल मुरारि।

जमुना क तिर उपवन उदबेगल पिफर-पिफर ततहि निहारि ॥"

विद्यापति के राधा-कृष्ण जब राह-घाट में मिल जाते हैं, तब एक-दूसरे को देखकर कितने प्रेम-विभोर हो जाते हैं -

"पथ गति नयन मिलल राधा-कान।

दुहु मनसिज पूरल संधान॥

दुहु मुख हेरइत दुहु भेल भोर।

समय न बूझए अचतुर चोर॥"

विद्यापति ने प्रेम सौंदर्य के अंतर्गत विरह का बहुत ही सुंदर चित्रण किया है। राधा को प्रियतम के बिना अपना तन और यौवन व्यर्थ लगने लगता है - "जौवन बिनु तन, तनु बिन जौवन की जौवन पिय दूरे।" ऋतु में तो उसका विरह और भी असह्य हो जाता है -

"चैदिसि भमर भम, वुफसुम-वुफसुम रम

नीरस माँजरि पीबइ।

मंद पवन चल, पिक वुफह-वुफह कह

सुनि विरहिनि कइसे जीवइ॥"

यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि विरह के चित्रण में राधा के ऐकान्तिक विरह चित्रण में विद्यापति बेजोड़ हैं। विरह-साधना में उनकी राधा अप्रतिम है।

इस प्रकार सौंदर्य अनेक रूपों में विद्यापति के काव्य में सामने आता है। कवि की सौंदर्य चेतना केवल इस बात में निहित नहीं है कि वह सौंदर्य के किन पक्षों को अपनी कविता में दर्ज करता है, किन पहलुओं को सुंदरता में पेश करता है बल्कि इस बात पर भी हि कि वह इन पहलुओं को

अपनी कविता में कैसे पेश करता है । कवि की सौंदर्य चेतना का स्तर इस बात से ही पता लगाया जा सकता है कि उसकी कविता- कला में कितना सौंदर्य है। वह एक सी प्रकृति, एक से मनोभाव, एक से सामाजिक स्थिति को कैसे अपनी कविता में अपने हाथों की विशिष्ट छाप दे कर गढ़ कर सामने लाता है जिसे पढ़ने के बाद हम अनायास ही पहचान जाते हैं कि यह अमुक कवि की कविता है। यह पहचान उसी सौंदर्य चेतना से आती है जिसमें कवि अपनी कविता को सजग भाव से ग्राहय बना कर सामने लाता है। इन कविताओं के गठन पर उस कवि के हाथों की स्पष्ट छाप होती है। इसलिये यह आवश्यक है कि हम काव्य सौंदर्य के इस कला पक्ष का भी अवलोकन करें।

इकाई 3
कबीरदास

इकाई की रूपरेखा

3.0 इकाई के उद्देश्य
3.1 प्रस्तावना
3.2 परिचय
3.3 भक्ति–आन्दोलन और कबीर
3.4 कबीर की भक्ति–पद्धति
3.5 कबीर का काव्य
3.6 कबीर की सामाजिक चेतना
3.7 कबीर की क्रान्तिकारिता
3.8 कबीर के दार्शनिक विचार
3.9 कबीर की भाषा
3.10 पाठांश और व्याख्या
3.11 मुख्य शब्दावली
3.12 अभ्यास हेतु प्रश्न

उद्देश्य :

- इस इकाई में हिन्दी साहित्य के क्षेत्र में कबीरदास के योगदान को जान सकेंगे।
- कबीर का संक्षिप्त परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- कबीर की भक्ति–पद्धति को समझ सकेंगे।
- सामाजिक क्षेत्र मे कबीर के अवदान को जान सकेंगे।
- कबीर की कुछ रचनाओं के पाठ के माध्यम से उनकी काव्य–क्षमता से अवगत हो सकेंगे।

3.1 प्रस्तावना

भक्तिकालीन कवियों में सन्त कबीरदास का स्थान विशेष महत्त्व का अधिकारी है। दक्षिण में उपजे भक्ति–आन्दोलन को उत्तर भारत में लाने का श्रेय यदि आचार्य रामानन्द को है, तो उसे भारत भर में प्रचारित–प्रसारित करने में बड़ी भूमिका सन्त कबीर की है। कबीर ने अपने से पहले की परम्पराओं का सार–तत्त्व ग्रहण कर भक्ति का एक सरल–सुगम पथ चलाया जो जनता के लिये बड़ा उपयोगी सिद्ध हुआ। अपने समय के सबसे क्रान्तिकारी कवि कबीर जितने बड़े भक्त हैं उतने ही बड़े सुधारक और उतने ही बड़े कवि भी। वे ऐसे अनूठे व्यक्तित्व हैं जिसने पीछे की शताब्दियों से चले आ रहे प्रभावों को आत्मसात किया और फिर आगे की शताब्दियों तक लोगों को अपने विचारों से प्रेरित–प्रभावित किया। कविता की ही नहीं, उन्होंने

जनजीवन की भी दिशा बदलकर रख दी। प्रस्तुत इकाई में हम इन्हीं महान सन्त और कवि कबीर के बारे में चर्चा करेंगे।

3.2 कबीरदास : सामान्य परिचय

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की निर्गुण काव्यधारा की ज्ञानाश्रयी शाखा के सर्वप्रमुख कवि हैं कबीरदास। इसी ज्ञानाश्रयी शाखा को अब सन्त–काव्यधारा भी कहा जाता है और इस काव्यधारा के कवियों द्वारा रचित काव्य को सन्त–काव्य कहा जाता है। इस सन्त–काव्य–परम्परा के प्रवर्तक सन्त कबीरदास के बारे में मान्यता है कि उनका जन्म सन् 1398 में हुआ था। किसी विधवा ब्राह्मणी की त्याज्य सन्तान बताये जाने वाले कबीर का लालन–पालन नीरू और नीमा नाम के जुलाहा दम्पति ने किया। कबीर गृहस्थ थे और उनकी पत्नी का नाम लोई था जिससे उन्हें कमाल और कमाली नाम की दो सन्तानें भी हुई। कबीर के गुरु उस समय के प्रसिद्ध आचार्य रामानन्द थे जिनसे प्राप्त राम नाम के मन्त्र को उन्होंने अलग अर्थ दिया और राम के निर्गुण स्वरूप को अपनी भक्ति का आधार बनाया। मान्यता है कि कबीर का देहावसान सन 1518 ई. में मगहर में हुआ और इस तरह उन्होंने लगभग 120 वर्ष लम्बी आयु प्राप्त की। कबीर ने औपचारिक शिक्षा नहीं पायी थी, पर साधु–सन्तों की संगत से बहुत सा ज्ञान अर्जित किया था, जिससे उन्हें विविध मत–मतान्तरों की अच्छी जानकारी थी। उनके समय में जो धार्मिक–साम्प्रदायिक प्रतिस्पर्धा थी, जो सामाजिक विषमता थी; उसके विरुद्ध उन्होंने अपनी तीव्र आवाज उठायी और भक्ति एवं जीवन का एक सहज मार्ग तैयार किया जो आगे चलकर कबीर–पन्थ के रूप में प्रचलित हुआ। चूँकि वे स्वयं पढ़े–लिखे नहीं थे, जैसा कि उन्होंने कहा भी है– 'मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहिं हाथ'– इसलिये उन्होंने लिखा नहीं है, कहा है। और जो कहा है वह कागज का लिखा हुआ नहीं है, आँखों देखा है अर्थात् उनके कहे वचनों का आधार शास्त्र नहीं, स्वयं द्वारा अनुभव किया हुआ ज्ञान है। कबीर ने जो कहा, जो बोला, जो गाया; उसे उनके शिष्यों ने लिपिबद्ध कर लिया। उनके द्वारा रचित रचनाओं का 'बीजक' नामक संग्रह प्रसिद्ध है, जिसे उनके शिष्य धर्मदास ने तैयार किया था। 'बीजक' का सामान्य अर्थ होता है 'कुंजी' या वह मानचित्र जो खजाने तक पहुँचने का रास्ता बताता है। इस तरह से 'बीजक' में संग्रहीत रचनाएँ परमात्मा तक पहुँचने का मार्ग खोलने वाली 'कुंजी' हैं या कहें तो ईश्वर तक पहुँचाने का जरिया है। ये रचनाएँ तीन शैलियों में निबद्ध हैं, जिन्हें साखी, सबद और रमैनी कहा जाता है।

3.3 भक्ति–आंदोलन और कबीर

हिंदी साहित्य के इतिहास के आदिकाल में लिखे गए वीर–रसात्मक रासो ग्रंथों के महत्व को देखते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उसे वीरगाथा काल नाम दिया। वीरगाथा काल के बाद हिंदी में मिलने वाली भक्ति–रचनाओं की प्रचुरता के कारण आगे के कालखंड को शुक्ल जी ने भक्तिकाल नाम दिया जो प्रायः इसी रूप में सभी को मान्य है। वीर रस से आप्लावित हिंदी साहित्य कैसे यकायक आगे चलकर भक्ति के सागर में निमग्न हो गया, इसको लेकर विद्वानों के तरह–तरह के मत हैं। इससे आश्चर्यचकित हुए ग्रियर्सन जैसे विदेशी विद्वानों ने तो हिंदी भक्ति–साहित्य को ईसाइयत की देन ही ठहरा दिया जिससे उसका दूर–दूर तक वास्ता नहीं है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इस सन्दर्भ में यह निष्कर्ष निकाला कि ''जब मुस्लिम साम्राज्य दूर–दूर तक स्थापित हो गया तब परस्पर लड़ने वाले स्वतंत्र राज्य नहीं रह गए। इतने भारी उलट–फेर के पीछे हिंदू जनसमुदाय पर बहुत दिनों तक उदासी

छाई रही। अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने की अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 39) आगे चलकर आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने शुक्ल जी की इस मान्यता का विरोध करते हुए अपना तर्क प्रस्तुत किया– ''यह भी बताया गया है कि जब मुसलमान हिंदुओं पर अत्याचार करने लगे तो निराश होकर हिंदू लोग भगवान का भजन करने लगे। यह बात अत्यंत उपहासास्पद है। जब मुसलमान लोग उत्तर भारत में मंदिर तोड़ रहे थे उसी समय अपेक्षाकृत निरापद दक्षिण में भक्त लोगों ने भगवान की शरणागति की प्रार्थना की। मुसलमानों के अत्याचार के कारण यदि भक्ति की भावना को उमड़ना था तो पहले उसे सिंध में और फिर उत्तर भारत में प्रकट होना चाहिए था, पर वह हुई दक्षिण में।'' (हिंदी साहित्य उद्‌भव और विकास, पृष्ठ–59) उन्होंने तो यहां तक कहा कि 'अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।' (हिंदी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ–16)

वास्तव में तो हिंदी में भक्ति साहित्य का जो बिजली की चमक की तरह अचानक आ जाना ग्रियर्सन जैसे विदेशी विद्वानों को चौंका गया, वैसा नहीं है। हिंदी में भक्ति साहित्य का उदय कोई अकस्मात् होने वाली घटना नहीं थी। इसकी एक लंबी पृष्ठभूमि पहले से बन रही थी। यूं भारत में भक्ति–भावना का विकास हमें वेदों से ही देखने को मिलने लगता है जो ब्राह्मण ग्रंथों, उपनिषदों आदि से आगे बढ़ते हुए भागवत के रूप में पुष्ट होता दिखता है। दक्षिण के आचार्यों ने 1000 ई. के आसपास विभिन्न दार्शनिक सिद्धांतों का आधार देकर इसे आगे बढ़ाया, तो वहीं आलवारों की भी एक सुदीर्घ और सुपुष्ट परंपरा वहां देखने को मिलती है। परंतु यदि हम भक्तिकाल के ठीक पहले के आदिकाल को देखें, जिसे शुक्ल जी ने वीरगाथा काल की संज्ञा दी, तो उसमें भी मात्र वीर रस की कविताएं ही नहीं लिखी गईं। दरबारों और दरबारी कवियों से जुड़े रासो–ग्रंथ आदिकाल में लिखे अवश्य गए और उनकी अपनी लोकप्रियता भी थी; परंतु जो साहित्य सिद्धों, नाथों और जैनियों द्वारा लिखा गया, उसका प्रभाव भी जनता पर कुछ कम नहीं था। अपभ्रंश और अपभ्रंश–मिश्रित हिंदी में रचित इस साहित्य का प्रभाव भक्तिकालीन कवियों और उनकी रचनाओं पर भी अच्छा–खासा देखा जा सकता है। हिंदी में आगे बढ़े भक्ति–आन्दोलन की पूर्वपीठिका के रूप में इन सब बातों पर विचार किये बिना उसे ठीक से नहीं समझा जा सकता, जिसे आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सैकड़ों वर्षो से मेघखंडो का एकत्र होना बताया है।

हिंदी में भक्ति के उद्‌भव और विकास को लेकर एक दोहा प्रचलित है कि भक्ति का उद्‌भव तो द्रविड़ क्षेत्र (दक्षिण भारत) में हुआ। आचार्य रामानंद उसे वहां से उत्तर भारत में लाए और फिर कबीर ने उसे सातों द्वीपों, नवों खंडों तक (सर्वत्र) फैलाया–

भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानंद।
परगट किया कबीर ने, सप्तदीप नवखंड।।

डॉ. विजयेन्द्र स्नातक लिखते हैं– ''हिन्दी के निर्गुण भक्ति के प्रवर्तकों में कबीर को प्रमुख स्थान दिया जाता है। उसका कारण यह है कि उन्होंने अपनी वाणियों में मनुष्यत्व की सामान्य भावना को जाग्रत किया और निम्न श्रेणी की जनता में आत्मगौरव का भाव उत्पन्न करके भक्ति के ऊंचे–से–ऊंचे सोपान की ओर बढ़ने में योग दिया। फलतः एक निर्गुण पन्थ चल निकला जिसके प्रवर्तक कबीर हुए और उसके बाद अनेक सन्त कवि इस निर्गुणधारा में स्थान पा सके।'' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ 40–41)

दूसरी तरफ डॉ गणपतिचंद्र गुप्त ने अपने 'हिंदी साहित्य का वैज्ञानिक इतिहास' में संत–काव्य–परंपरा पर विचार करते हुए लिखा है– ''...हिंदी में इस काव्य–परम्परा का प्रवर्तन सर्वथा मौलिक रूप में नहीं हुआ, अपितु यह मराठी में विकसित होती हुई हिंदी में पहुंची है। हिंदी में इसे प्रचलित करने का श्रेय महाराष्ट्रीय संत नामदेव (1270–1350) को है, जिन्होंने एक ओर उत्तरी भारत में दीर्घकाल तक रहकर अपने विचारों का प्रचार किया तो दूसरी ओर हिंदी में विपुल पदों की रचना की, जिनमें से शताधिक आज भी उपलब्ध हैं। उनके पदों में परवर्ती संत–काव्य की प्रायः सभी विशेषताएं विचार, भाव, भाषा, शैली आदि मिलती हैं। ऐसी स्थिति में कोई कारण नहीं कि हम उन्हें हिंदी–संत–काव्य–परंपरा का प्रवर्तक न मानें। (पृष्ठ 193) डॉ. गुप्त की बात अपनी जगह; पर सच्चाई यह है कि हिंदी के भक्ति–साहित्य पर जो प्रभाव कबीर का पड़ा है, जो मान और महत्त्व कबीरदास का है तथा जो लोकप्रियता उन्हें मिली है, वैसा नामदेव या किसी अन्य के साथ नहीं हुआ है। इसलिए नामदेव या एवं अन्य महाराष्ट्रीयन संतों–भक्तों के काव्य को भी हिंदी–भक्ति–साहित्य की पृष्ठभूमि एवं प्रेरणा के रूप में ही स्वीकार किया जाना उचित होगा, न कि उससे इस साहित्य–परंपरा का प्रवर्तन मानना।

हिंदी में भक्ति–आंदोलन का उदय और विकास निर्गुण और सगुण दो काव्य–परंपराओं के रूप में हुआ। शंकराचार्य के अद्वैतवाद की व्याख्या एवं विकास के क्रम में चार और सिद्धांत 10वीं शताब्दी के आगे–पीछे सामने आए– रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत संप्रदाय, निंबार्काचार्य का द्वैताद्वैतवाद, मध्वाचार्य का द्वैतवाद तथा वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैतवाद। इन्हें क्रमशः श्री संप्रदाय, सनक संप्रदाय, ब्रह्म संप्रदाय तथा पुष्टि संप्रदाय भी कहा जाता है। 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' (ईश्वर ही सत्य है संसार झूठा है) कहकर निर्गुण–भक्ति को आधार देने वाले अद्वैतवादी दर्शन के खंडन या प्रतिक्रिया के रूप में सामने आए उपर्युक्त चारों सिद्धांत सगुण भक्ति को आधार प्रदान करते हैं। इन्हीं से राम और कृष्ण भक्ति–शाखा का विकास हुआ है। पर, रोचक बात यह रही कि कबीर ने इनसे निर्गुण–भक्ति का सूत्र ग्रहण किया और आगे चलकर उसे व्यापक रूप से पुष्ट किया। इस तरह सगुण–भक्ति के सिद्धांतों की प्रथम फलश्रुति निर्गुण भक्ति के रूप में सामने आई। डॉ. नन्दकिशोर पाण्डेय के अनुसार, ''भक्ति आन्दोलन को राष्ट्रव्यापी स्वरूप प्रदान करने में दक्षिण भारत के आचार्यों की भूमिका महत्त्वपूर्ण है। इन आचार्यों के कारण ही इस आन्दोलन को सार्वदेशिक स्वरूप प्राप्त हुआ। इन लोगों ने सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों प्रकार की जमीन तैयार की।'' (सन्त रज्जब पृ. 6)

श्री संप्रदाय के अंतर्गत आने वाले विशिष्टाद्वैतवाद से ही 'रामावत संप्रदाय' विकसित हुआ। इसके प्रचलनकर्ता स्वामी रामानंद थे। रामानंद ने जिस राम–भक्ति का प्रचार किया, उसे उनके शिष्यों ने सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में ग्रहण कर आगे बढ़ाया। कबीर ने अपने गुरु रामानंद से राम नाम का मंत्र तो प्राप्त किया, पर उसे स्वीकार अपने ढंग से किया। 'दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना, राम नाम का मरम है आना' कहकर उन्होंने स्पष्ट तौर पर अपने राम के निर्गुण होने की घोषणा की। यही नहीं तो इस राम के लोक–प्रचलित या कहें तो भक्तों में स्वीकृत गोविंद, हरि, माधव आदि अनेकानेक नामों को भी अपनाया; पर उन्हें अर्थ अपने दिए। उन्होंने नाम से अधिक उसके पीछे निहित भाव को महत्त्व दिया और यह भाव था निर्गुण–निराकार ब्रह्म या परमात्मा का। इस भाव का मन में उदय होने पर व्यक्ति, व्यक्ति के भीतर भेदभाव पैदा करने वाले जाति, धर्म, क्षेत्र आदि से संबंधित अंतर मिट जाते हैं और सभी के भीतर उसी एक राम या ब्रह्म का दर्शन होने लगता है।

हिंदी साहित्य के भक्तिकाल में भक्ति–आंदोलन निर्गुण और सगुण दो रूपों में आगे बढ़ा। निर्गुण काव्यधारा के केंद्र में तो कबीर हैं ही, रोचक बात यह है कि सगुण काव्यधारा के पोषक कवियों ने जिस हद तक निर्गुण का स्वीकार और विरोध करते हुए अपने तर्क प्रस्तुत किए हैं उसमें भी कहीं–न–कहीं कबीर उनके ध्यान में रहे हैं। यही कारण रहा कि सूर और तुलसी जैसे कवियों ने निर्गुणवादियों का विरोध तो किया, परंतु निर्गुण को नकार नहीं पाये। निर्गुण और सगुण में समन्वय–स्थापना का प्रयास इस काव्यधारा के कवियों ने किया। इसी तरह से यदि हम देखें तो सगुणोपासना की बहुत सी बातों को कबीर अपने काव्य में स्थान देते नजर आते हैं, भले उनसे जुड़े आडंबरों का तीखा विरोध उन्होंने किया हो। कबीर ने अपनी पूर्व–परंपरा से बहुत कुछ ग्रहण किया है तो परवर्ती परंपरा के लिए बहुत कुछ प्रदान भी किया है। सिद्ध, नाथ, जैन, वैष्णव कवियों की बहुत सी बातों को उन्होंने लगभग ज्यों–का–त्यों उठा लिया है और उनके बाद के कवियों ने भी कबीर की ही कहीं बहुत सी बातों का पिष्टपेषण किया है।

भक्ति आंदोलन को कबीर की सबसे बड़ी देन रही उसे सर्वसुलभ बनाना। जिन जातियों के लिए मंदिरों के दरवाजे नहीं खुले थे, उन्होंने भक्ति को उनके दरवाजों तक पहुंचा दिया और बताया कि भगवान को ढूंढने के लिए मंदिर, मस्जिद, मठ, मजार, जंगल, पर्वत कहीं जाने की जरूरत नहीं। मन की सच्चाई और गुरु–कृपा से वह घर बैठे मिल सकती है। भक्तिपथ में जाति–धर्म के भेद को नकार कर उन्होंने सामाजिक समरसता को बढ़ावा देने में तो अपनी बड़ी भूमिका निभाई ही, धर्मांतरण के कुचक्र को थामने में भी अपना महत् योगदान दिया। हिंदू धर्म की कमजोर नस जाति को मुद्दा बनाकर जो धर्मांतरण के प्रयास किए जा रहे थे और निम्न कही जाने वाली जातियों को इस्लाम में दीक्षित होने के लिए उन्हें मंदिरों में प्रवेश न करने देने को लेकर मुद्दा बनाकर उकसाया जा रहा था, कबीर ने उसे विफल करने में चाहे–अनचाहे अपना बड़ा योगदान दिया। कबीर ने धर्मस्थलों के प्रति विराग तो पैदा किया ही, हिंदू के साथ मुस्लिम पक्ष की कमजोरियों को सामने रख लोगों को यथास्थिति में रहने को प्रेरित किया। कबीर ने ऐसे समय में हिंदू–मुसलमान दोनों धर्मों की पोल खोलकर, धर्मस्थलों के प्रति विराग पैदा कर तथा जाति–धर्म की सीमाओं से परे एक मानवतावादी–समतावादी पन्थ का विकल्प रखकर जनता के बहुत बड़े वर्ग को धर्म–परिवर्तन के प्रति निरुत्साहित कर दिया। डॉ. नंदकिशोर पांडेय ने अपनी पुस्तक 'संत रज्जब' में जो बात रामानंद के लिए कही है, वहीं उनके महान शिष्य कबीर पर भी शत–प्रतिशत लागू होती है– ''रामानंद ने भक्ति के क्षेत्र में जो कुछ किया वह तत्कालीन समाज के लिए महत्वपूर्ण घटना थी। उन्होंने हिंदू समाज के भीतर एक बहुत बड़ी चुनौती को स्वीकार किया था। इनके शिष्यों ने हिंदू समाज के एक बहुत बड़े हिस्से को टूटने से बचा लिया। समाज की कथित छोटी जातियों में उत्पन्न होने के बावजूद इनका स्वाभिमान काफी ऊंचा था। इन संतों ने भारतीय दर्शन के मूल तत्व को अपनी सीधी सपाट वाणी में अपने पेशे से युक्त दैनंदिन चरिया के कामों में आने वाले शब्दों से उपमा, उपमेय ग्रहण कर सर्वजन के लिए सुलभ करा दिया।'' (सन्त रज्जब पृ. 11)

आडंबर–रहित सामान्य मानव–धर्म के विकास के साथ–साथ कबीर ने एक अच्छे मानव के विकास पर भी जोर दिया और ईश्वर को पाने के लिए मनुष्य के भीतर सच्चाई और अच्छाई होने की शर्त को जोड़ दिया। आचरण की शुद्धता, मन की निर्मलता, कर्म की पावनता पर जोर देकर उन्होंने एक अच्छे समाज निर्माण के लिए दिशा दिखाई जो आगे चलकर समूचे

के भक्ति–साहित्य की विशेषता बनी। कबीर की भक्ति–साधना में मनुष्य जब ईश्वर से जुड़ता है तो फिर उसकी अन्य मनुष्यों से भी दूरी नहीं रह जाती, क्योंकि उसे सभी के भीतर उसी निर्मल ब्रह्म ज्योति का आभास होने लगता है।

3.4 कबीरदास की भक्ति–पद्धति

कबीर की भक्ति पर विचार करने से पहले एक प्रश्न तो यही मन में उठता है कि क्या कबीर भक्त हैं? आधुनिक आलोचना ने निर्गुण–सगुण से जोड़कर भक्तिकालीन कवियों का जो वर्गीकरण किया है उसके अनुसार अब तुलसीदास भक्त हो गये हैं और कबीरदास सन्त। जबकि कबीर ने बार–बार अपने को भक्त कहा है। भले ही उनके पदों का आरम्भ 'सन्तों', 'साधो', 'साधू' आदि सम्बोधनों से होता है, परन्तु सच्चाई यह है कि इन शब्दों का प्रयोग उन्होंने अपने सामने बैठे समाज के लिये किया है, अपने लिये सन्त या साधु कहने में संकोच ही किया है। दूसरी तरफ न केवल उन्होंने अपनी रचनाओं में अपने को बार–बार भक्त कहा है, अपितु अपनी भक्ति–पद्धति को भी स्पष्ट किया है– 'भगति नारदी मगन सरीरा। इहि विधि भव तरि रहै कबीरा।' या 'जब लगि भाव भगति नहिं करिहौ। तब लगि भव सागर क्यों तरिहौ।'

स्पष्ट है कि कबीर भक्त तो हैं। अब प्रश्न यह है कि उनकी भक्ति का स्वरूप कैसा है? उनकी भक्ति–पद्धति की विशेषताएँ क्या–क्या हैं जो उन्हें औरो से अलग करती हैं?

कबीर ने अपनी भक्ति को नारदीया भक्ति बताया है और भाव–भक्ति का प्रबल समर्थन किया है। यह भाव क्या है? यह प्रेम का भाव है जो नारदीय भक्ति का आधार है– 'सा त्वस्सिन परम प्रेमस्वरूपाः।'... इसी प्रेम–भाव में आ. रामचन्द्र शुक्ल श्रद्धा को जोड़कर भक्ति की परिभाषा करते हैं– 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है।' कबीर की भक्ति में हमें श्रद्धा की गहराई और प्रेम की तल्लीनता के दर्शन होते हैं। कबीर को ज्ञानमार्गी कहा जाता है, पर उनके यहाँ प्रेम का महत्व कुछ कम नहीं है। भक्ति में दोनों का समुचित समन्वय आवश्यक होता है। परमात्मा के महात्म्य का ज्ञान भक्त में उसके प्रति श्रद्धा–भावना बनाये रखता है और उसके प्रति प्रेम उससे जोड़ता है, उसके प्रति समर्पित करता है। प्रेम के साथ श्रद्धा के भी जुड़े होने से ही वह प्रेम सांसारिक प्रेम से विशिष्ट होकर 'भक्ति' में बदलता है।

कबीर की भक्ति की विशेषताओं पर बात करने से पहले उससे जुड़ी कुछ और बातें समझनी आवश्यक हैं। कबीर ने जिन बातों को आधार बनाकर अपनी भक्ति का स्वरूप तैयार किया, उनमें से बहुत सी बातें परम्परा से चली आ रही थीं। हाँ, उन्होंने उन बातों को स्वीकारा अवश्य अपने ढँग से। कबीर बहुश्रुत थे। साधु–सन्तों की संगत और पर्यटन से उन्होंने विपुल ज्ञान अर्जित किया था। अपने समय तक प्रचलित शास्त्रीय–अशास्त्रीय बहुत सी साधना–पद्धतियों का उन्हें ज्ञान था। उनसे सार–तत्त्व लेकर उन्होंने अपनी भक्ति का भवन निर्मित किया। इसलिये पूर्व प्रचलित सिद्ध–नाथ परम्परा, जैन मान्यताएँ, वैष्णव मत, महाराष्ट्र के वारकरी आदि पन्थों से लेकर अद्वैतवाद, इस्लाम के एकेश्वरवाद तथा सूफियों की प्रेम–पद्धति तक के अनेकानेक प्रभाव उनके काव्य में खोज–देखे जाते हैं। कबीर ने इन सबसे सार–सार को ग्रहण किया तो इनके निस्सार तत्त्वों की तीखी आलोचना भी की। कबीर की भक्ति–पद्धति की अन्य विशेषताओं को हम निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत रखकर देख–समझ सकते हैं–

3.4.1. निर्गुण राम की भक्ति

कबीर एकेश्वरवादी हैं, अर्थात् एक ईश्वर को मानने वाले हैं। उनके गुरू रामानन्द ने उन्हें राम नाम का मन्त्र दिया जिसे कबीर ने सगुण के बजाय निर्गुण रूप में स्वीकार कर लिया। उन्होंने कहा– दशरथ सुन तिहुँलोक बखाना। राम नाम का मरम है आना।' तीनों लोकों में विख्यात् अयोध्या के राजा दशरथ के बेटे राजा राम से अलग अपने राम के जिस मर्म को उन्होंने समझा, वह कैसा है– 'जाके मुँह माया नहीं, नाहीं रूप–कुरूप। पुहुप वास से पातरा, ऐसो तत्त्व अनूप।' यह राम किसी मन्दिर में नहीं बैठा है, बल्कि सारे जगत में हर जगह, हर प्राणी के भीतर उपस्थित है। इसलिये कबीर कहते हैं– 'खालिक खलक खलक में खालिक सब घट रहा समाई।' यह राम एक ही है, भले ही उसे अल्लाह या खुदा जैसे अलग–अलग नामों से पुकारा जाये। जब राम एक है और वह सब प्राणियों के भीतर है तो धर्म के आधार पर मानव जाति में बँटवारा भी उचित नहीं। इसलिये कबीर की मान्यता है– 'कहैं कबीर एक राम जपहु रे, हिन्दु तुरक न कोई।'

कबीर की भक्ति की यह एक और विशेषता है कि उन्होंने जिस निर्गुण ईश्वर को अपनी भक्ति का आधार बनाया है, उसे राम ही नहीं, गोंविन्द, माधो, हरि, ब्रह्मा आदि अनेकानेक नामों से भी पुकारा है। अभिप्राय यह कि कबीर को परमात्मा को किसी नाम से पुकारने से परहेज नहीं था, परन्तु उन्होंने उन नामों को अर्थ अपने ही दिये हैं। वे मानते हैं कि उस अपरम्पार ईश्वर के अनन्त नाम हो सकते हैं और सच्चे मन के साथ किसी भी नाम से दी गयी आवाज उस तक पहुँच सकती है– 'अपरम्पार का नाउँ अनन्त।'

3.4.2. ज्ञानमार्गी परम्परा

कबीर की भक्ति ज्ञानमार्गी है, इसका मतलब यह नहीं है कि उसमें प्रेम की महत्ता कम है। बिना प्रेम के तो भक्ति हो ही नहीं सकती। स्वयं कबीर ने कहा है– 'ढाई आखर प्रेम का पढ़ै सो पंडित होइ।' पर, यह प्रेम मन में उत्पन्न कैसे हो? इसके लिये पहले जरूरी है ज्ञान। यह ज्ञान शास्त्रों में लिखा ज्ञान नहीं है। यह ज्ञान गुरू के द्वारा दिया गया है। 'दिया गया है' का मतलब किसी वस्तु की तरह हाथ में पकड़ाया नहीं गया है, बल्कि हृदय में उसका अनुभव कराया गया है। यह ज्ञान जब हृदय में आता है तो आँधी की तरह सब कुछ पुराना नष्ट–भ्रष्ट कर नवीन अलौकिक आनन्द दे जाता है– 'सन्तों भाई आई ज्ञान की आँधी रे।' इस ज्ञान के आनन्द का एक बार अनुभव मिल जाने पर भक्त की सांसारिक आनन्द में कोई रुचि नहीं रह जाती– 'सुखिया सब संसार है, खावै अरु सोवै। दुखिया दास कबीर है, जागै अरु रोवै।' यह ज्ञान जन्म को जीवन को बनाता है, उसे सार्थक करता है, अमरत्व देता है; परन्तु विरले ही लोग इसे गुरू की कृपा से प्राप्त कर पाते हैं अन्यथा तो माया रूपी दीपक में पतंगे की भाँति फँसकर बार–बार अपने जीवन को नष्ट ही करते हैं– 'माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवै पड़ंत। कहै कबीर गुरु ज्ञान तें एक आध उबरन्त।'

3.4.3. गुरु की महत्ता

कबीर की भक्ति–पद्धति में भक्त को भगवान के रास्ते पर ले जाने में गुरु की बड़ी भूमिका होती है। वही शिष्य के भीतर ज्ञानोदय में सहायक होता है, इसलिये इस पद्धति में गुरु का बहुत ऊँचा स्थान है। गुरु को यहाँ 'सदगुरु' या 'सतगुरु' कहा जाता है। यह कोई सामान्य ज्ञान देने वाला शिक्षक नहीं है, अपितु सत्य नाम परमात्मा का अनुभवजन्य ज्ञान–प्रदाता गुरु है, इसलिये से 'सत्गुरु' अर्थात् सत्य का ज्ञान कराने वाला यानि शरीर के

भीतर ही परमात्मा का दर्शन कराने वाला गुरु कहा जाता है। इसलिये भक्त के जीवन में इसके उपकारों की कोई सीमा नहीं– 'सत्गुरु की महिमा अनत, अनत किया उपगार। लोचन अनत उघाड़िया, अनत दिखावण हार।' भक्त इन उपकारों के बदले गुरु को कुछ देना भी चाहे तो उसे कोई ऐसी चीज दिखायी नहीं देती– 'राम नाम के पटतरे दैबे कौ कुछ नाहिं। का लै गुरु संतोषिए, हौंस रही मन माहिं।' गुरु की महिमा तो कबीर के मन में इसी कारण से इतनी है कि वे ईश्वर की नाराजगी भी मोल लेकर गुरु की पहले वन्दना करना चाहेंगे–

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काकै लागौ पाँय ।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय।।

कबीर मानते हैं कि यदि हरि रूठ गया तो गुरु फिर उससे मिलवा देंगे, पर यदि गुरु रूठ गये तो हरि भी कुछ सहायता नहीं कर पायेंगे–

'कबिरा हरि के रूठते, गुरु के सरने जाय।
कहि कबीर गुरु रूठते, हरि नहिं होत सहाय।'

3.4.4. पारम्परिक पूजा–पद्धतियों एवं आडम्बरों का निषेध

मन्दिर–मस्जिद–मठ आदि पूजा–स्थल शताब्दियों से लोगों की धर्म–भावना का केन्द्र रहे हैं जहाँ जाकर वे अपनी–अपनी आस्था के अनुसार उपासना करते हैं। इन धर्मस्थलों को लेकर एवं उनमें जाकर पूजा करने के सम्बन्ध में अनेक तरह के विधि–विधान एवं आचार–विचार बने हुए हैं। कबीर इन सबको नकारते हैं और भगवान एवं भक्त के सीधे सम्बन्ध को स्वीकारते हैं– 'तेरा साईं तुज्झ मैं, जाग सकै तौ जाग।' कबीर ने धर्मस्थलों तथा उनमें की जाने वाली पूजा–पद्धतियों को दो कारणों से विशेष तौर से नकारा है। एक तो यह कि इन धर्मस्थलों में सभी को जाने की छूट नहीं होती और दूसरे ये झगड़े का बड़ा कारण बनते हैं। कबीर के समय दो धर्म– हिन्दू और मुसलमान प्रमुख थे और इनमें आपस में कभी–कभी अपने–अपने धर्मों को श्रेष्ठ मानने के कारण कलह भी हो जाया करती थी। कबीर ने दोनों धर्मों, उनसे जुड़े धर्मस्थलों और उनकी उपासना–पद्धतियों की तीखी निन्दा की है। वे मूर्ति पूजा के जितने विरोधी हैं, उतने ही अजान के। जहाँ वे हिन्दू को ऐसी बातें कहते हुए ललकारते हैं कि 'पाथर पूजे हरि मिलै तौ मैं पूजूँ पहार' तो वहीं मुसलमान को भी ऐसे वचनों के द्वारा लताड़ते हैं कि 'कांकर पाथर जोरि कै मस्जिद लई बनाइ। ता चढ़ि मुल्ला बांग दे क्या बहरा हुआ खदाइ।' इतना ही नहीं, वे तो जप, माला, छापा, तिलक, नमाज, रोजा, व्रत, तीर्थाटन आदि की भी भर्त्सना करते हैं। उनकी दृष्टि में ईश्वर धर्मस्थलों में नहीं है, आडम्बरों से उसे प्रसन्न नहीं किया जा सकता। वह हर जगह है और अपने भीतर उसे सच्चे मन से खोजने पर पाया जा सकता है–

'मोको कहाँ ढूँढे बन्दे मैं तो तेरे पास में।
न मन्दिर में न मस्जिद में न काबे कैलास में।
खोजी होय तौ तुरतै मिलिहौं पल भर की तालास में।'

3.4.5. सत्संग को महत्त्व

यों तो व्यक्ति–मात्र के जीवन में अच्छी–बुरी संगति का बड़ा प्रभाव पड़ता है, पर भक्ति के क्षेत्र में सत्संगति की विशेष महिमा बताई गयी है। सत्संग या सत्संगति का अर्थ है– सत्पुरुषों का संग। सत्पुरुष कौन? जो सत्य–स्वरूप उस परमात्मा का अपने हृदय में साक्षात्कार कर चुके हैं। ऐसे लोगों को साधु, सन्त, महात्मा आदि भी कहा जाता है। इन्हीं

लोगों के संग अधिक–से–अधिक समय बिताना और उनकी ज्ञान–चर्चाओं का लाभ उठाना भक्ति के क्षेत्र में विशेष फलदायी होता है। कबीर भी भक्ति के विकास में सत्संग के महत् अवदान को स्वीकारते हैं, इसलिये बार–बार सत्संग करने पर जोर देते हैं– 'कबिरा संगति साधु की सहज करीजै सोइ।' कबीर स्पष्ट उल्लेख करते हें कि भक्ति के क्षेत्र में सफलता उन्हें सन्तों की संगति से ही मिली है–

कबीर बन बन मैं फिरा, कारन अपने राम।
राम सरीखे जन मिले, तिन सारे सब काम।।

3.4.6. आचरण की शुद्धता

कबीर की भक्ति–पद्धति में आचरण की शुद्धता पर बहुत बल दिया गया है। केवल शरीर को नहीं, मन को पवित्र बनाना इसमें आवश्यक है क्योंकि सच्चे और शुद्ध मन में ही परमात्मा आकर निवास कर सकता है। इसलिये सत्य बोलना और झूठ से बचना उस परमात्मा को पाने की एक बड़ी शर्त है–

'साँच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप। जाके हिरदय साँच है, ताके हिरदय आप।'

इसी तरह से अपने मन के अहं को निकालना अर्थात् अपने अभिमान को दूर करना भी ईश्वर से जुड़ने के लिये आवश्यक है। कबीर मानते हैं कि जब तक मन में अभिमान रहता है, तब तक वहाँ ईश्वर का आगमन नहीं होता और यदि एक बार मन में ईश्वर का प्रवेश हो गया तो फिर वहाँ अभिमान के लिये, अहं के लिये कोई जगह नहीं रहती–

'जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाहिं।
सब अँधियारा मिटि गया जब दीपक देखा माहिं।'

इसी तरह से हिंसा न करना, किसी का बुरा न चाहना, दूसरों का भला करना, निष्काम भाव से ईश्वर का नाम–स्मरण करना आदि मन को शुद्ध रखने के वे उपाय हैं जो भक्त को भगवान के समीप ले जाते हैं।

3.4.7 भक्ति के शास्त्रीय आधार और कबीर

यों तो कबीर शास्त्र को महत्त्व नहीं देते थे और पढ़े–लिखे न होने से शास्त्रों का विधिवत उन्होंने अध्ययन भी नहीं किया था, फिर भी उनके काव्य से जो तत्व निकलकर आते हैं, उनके आधार पर उनकी भक्ति का शास्त्रीय विवेचन भी किया जाता है। शास्त्रों में भक्ति के वैधी और रागानुगा नाम से दो भेद किये गये हैं। कबीर की भक्ति रागानुगा भक्ति है, जिसमें विधि–विधानों की नहीं, प्रेम तत्व की प्रधानता है। इसी प्रकार भक्ति के जो प्रकार दास्य, सख्य, माधुर्य, वात्सल्य आदि बताये गये हैं, कबीर के यहाँ वे सब भी कम या अधिक देखे जाते हैं, पर प्रमुखतः उनकी भक्ति दास्य और माधुर्य भावों से युक्त है। वे अपने को दास और परमात्मा को अपन स्वामी मानते हैं जिसका एकमात्र उद्देश्य स्वामी की इच्छानुसार चलना है। एक पद में वे कहते हैं– 'मैं गुलाम मोहि बेचि गुसाईं। तन मन धन मेरा राम जी के नाईं।' इसी तरह से अपनी एक साखी में वे अपने को राम का कुत्ता कहते हैं जो अपने स्वामी राम के इशारे पर चलता है–

'कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ। गले राम की जेवरी जित खींचै तित जाउँ।।'

माधुर्य भाव से सम्बन्धित भी बड़ी सुन्दर उक्तियाँ कबीर ने अपने पदों में की हैं। कहीं वे राम को अपना पिउ (प्रिय) और अपने को राम की बहुरिया (पत्नी) कहते हैं तो कहीं अपने को ऐसी प्रेमिका के रूप में देखते हैं जिसकी आँखों में अपने प्रियतम की राह देखते–देखते झाइयाँ

पड़ गयी हैं और जीभ में प्रिय का नाम लेते–लेते छाले पड़ गये हैं। प्रेमी–प्रेमिका के रूप में परमात्मा और जीवात्मा के विरह–मिलन के अनेक माधुर्यमय चित्र उन्होंने अंकित किये हैं। एक पद में तो वे अपनी जीवात्मा और परमात्मा के अलौकिक विवाह–सम्बन्ध का पूरा रूपक रचते हैं–

दुलहिनि गावहु मंगलचार।
हम घर आये हो राजा राम भरतार।

भक्तिकालीन सगुण भक्ति–साधना में नवधा भक्ति को बड़ा महत्व दिया गया है। कृष्ण–भक्ति और राम–भक्ति दोनों काव्याधाराओं के कवियों ने नवधा भक्ति को अपनाया है। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पाद–सेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन– नवधा भक्ति के ये नौ प्रमुख सूत्र हैं। कबीर के यहाँ भी इनमें से अधिकतर कम या अधिक मात्रा में देखें जाते है। इस आधार पर भी उनकी भक्ति–पद्धति का विवेचन किया जाता है। यहाँ नवधा भक्ति के कुछ सूत्र कबीर की कविता से द्रष्टव्य हैं–

– निरगुन राम, निरगुन राम जपहु रे भाई। **–कीर्तन**
– कबीर सुमिरन सार है दूजा दुःख अपार। **–स्मरण**
– मेरा मुझमें कुछ नहीं, जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सौंपता, क्या लागे है मोर।। **–आत्मनिवेदन**

कबीर को रामानन्द की शिष्य–परम्परा में माना जाता है। रामानन्द की भक्ति में प्रपत्तिमार्ग का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कबीर के यहाँ प्रपत्तिमार्गी भक्ति के तत्त्व भी देखने को मिलते हैं। भगवान के प्रति अनन्य भाव से शरणागति ही इस भक्ति का मूल भाव है, जिसके क्रमशः छह चरण हैं– अनुकूलता का संकल्प, प्रतिकूलता का परित्याग, भगवान के रक्षक रूप पर विश्वास, गौप्तृत्व–वर्णन, आत्मनिक्षेप तथा कार्पण्य। इनमें से कुछ के उदाहरण कबीर–काव्य से देखें–

कबीर कूता राम का मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेवरी जित खींचै तित जाउँ।। **–अनुकूलता का संकल्प**

कबीर के काव्य में यौगिक क्रियाओं तथा उनसे सम्बन्धित पारिभाषिक शब्दों का भी खूब वर्णन एवं प्रयोग देखने को मिलता है, जिससे पता चलता है कि उनकी भक्ति में योग–साधना का भी महत्त्वपूर्ण स्थान था। इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना नाड़ियाँ, सहस्रार चक्र, षट्दल कमल, नादविन्दु, अवधूत, ब्रह्मरन्ध्र जैसी हठयौगिक क्रियाओं और साधनाओं से सम्बन्धित प्रचुर शब्दावली उनकी कविता में समायी है। योग–साधना से सम्बन्धित कबीर के एक पद की दो पंक्तियाँ यहाँ उदाहरण स्वरूप द्रष्टव्य हैं–

अवधू गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै बंकनाल रस पीजै।

3.4.8 सर्वसुलभ भक्ति

कबीर की भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह सहज तो है ही, सबको और सब जगह सुलभ है। उसके लिये मन्दिर, मस्जिद, मठ, गुरुद्वारा, गिरिजाघर आदि किसी धर्मस्थल तक जाने की जरूरत नहीं। उसको आडम्बरों से नहीं, मन की सच्चाई से पाया जा

सकता है। प्रेम इसको प्राप्त करने का सबसे बड़ा आधार है और ज्ञान इस प्रेम को उत्पन्न करने का माध्यम है। कबीर के बनाये भक्तिमार्ग में जाति–धर्म–धन–क्षेत्र आदि के आधार पर पैदा हुए भेदों का कोई स्थान नहीं और इस पर चलने वाले पथिकों के लिये अपने भीतर के अहं को मिटाकर रख देना आवश्यक है। अमीर–गरीब, ऊँच–नीच सबके लिये वह समान रूप से सुलभ है। सभी इसके अधिकारी हैं। सामाजिक विषमता मिटाने में इस भक्ति मार्ग की बड़ी भूमिका है क्योंकि इस पर चलने वालों के लिये यह अनिवार्य नियम है– 'जाति–पाँति पूछै नहीं कोई, हरि को भजे सो हरि का होई।'

3.5 कबीर का काव्य :

कबीरदास के काव्य की बात करें तो यह तो निश्चित है कि कबीर ने स्वयं कुछ लिखा नहीं, सिर्फ बोला–गाया। उनके नाम पर एक दोहा प्रचलित है, जिसमें वे स्याही और कागज को नहीं छूने तथा कलम को हाथ में नहीं पकड़ने की बात कहते हैं– 'मसि कागद छूओ नहीं, कलम गही नहिं हाथ।' इस आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि उन्होंने विधिवत् औपचारिक शिक्षा नहीं पायी थी। श्रुत–परम्परा से जो ज्ञान उन्होंने अर्जित किया और अपने भीतर जो अनुभूतियाँ की, उसके आधार पर उन्होंने अपने भावों–विचारों को काव्यात्मक रूप में प्रस्तुत किया। उनके द्वारा रचे गये इस काव्य को उनके शिष्यों ने सुरक्षित किया। मगर समस्या यह रही कि कबीरदास आगे चलकर कबीरपन्थियों में ही नहीं, लोक में भी इतने चर्चित, समादृत और स्वीकार्य कवि रहे कि उनके नाम पर बहुत सी रचनाएँ चला दी गयीं। इस कारण से कबीर के नाम से बहुत सी रचनाएँ मिलती हैं, जिनमें से कुछ कबीर की ही होते हुए भी इतनी बदल गयी हैं कि अलग–अलग क्षेत्रों और संकलनों में उनके विभिन्न रूप मिलते हैं और कुछ ऐसी हैं कि जिनके कबीर द्वारा रचित होने पर विद्वानों ने शंका प्रकट की है। यह एक ऐसी समस्या है जिसके कारण कबीर की मूल रचनाओं को प्राप्त करने में कठिनाई आती है। इसी कारण कबीर–काव्य के अनेक संकलन आधुनिककालीन विद्वानों ने भी तैयार किये हैं।

कबीरदास की रचनाओं का उनके समय का तो कोई संकलन नहीं मिलता, लेकिन उनके बाद उनके नाम पर प्रचलित अनेक रचनाओं में से दो बहुत महत्त्वपूर्ण संकलन माने जाते हैं। एक तो उनके शिष्य धर्मदास द्वारा तैयार बीजक, और दूसरा सिक्खों का धार्मिक ग्रन्थ 'गुरुग्रन्थसाहिब' जिसमें अन्य अनेक सन्तों के साथ कबीर की भी कई रचनाएँ संग्रहीत हैं। डॉ. रामचन्द्र तिवारी के अनुसार 'गुरुग्रन्थसाहिब का सम्पादन–संकलन संवत् 1661 में हुआ था।' इसी तरह 'बीजक' के बारे में उनका मानना है– "बीजक का मूलरूप संवत 1627 से संवत् 1660 के आस–पास संकलित हुआ होगा। अर्थात् इस समय उपलब्ध कबीर वाणी का कोई भी पाठ कबीर के समय का नहीं है। कुछ–न–कुछ प्रक्षेप सभी परम्पराओं के पाठों में हुआ है।" (कबीर–मीमांसा, पृ. 49) जहाँ तक आधुनिककालीन विद्वानों द्वारा कबीर की रचनाओं की जानकारी जुटाने सम्बन्धी प्रयत्नों की बात है तो सन् 1846 में 'श्री विल्सन ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'रिलीजस सेक्ट्स ऑफ दि हिन्दूज' में कबीर की मात्र आठ रचनाओं का उल्लेख किया था– 1. आनन्दराम सागर, 2. वलख की रमैनी, 3. चाँचरा, 4. हिंडोला, 5. झूलना, 6. कबीर पंजी, 7. कहरा, 8. शब्दावली।' उसके बाद यह संख्या प्रायः बढ़ती चली गयी है। रेवरेंड वेस्टकाट ने 'कबीर और कबीर पन्थ' (1907 ई.) में कबीर के प्रकाशित और हस्तलिखित सब मिलाकर कुल 12 गन्थों का उल्लेख किया तो मिश्रबन्धुओं ने अपने हिन्दी नवरत्न (1926 ई.) में 75 और फिर 'मिश्रबन्धु विनोद' के तृतीय संस्करण (1929 ई.) में 84 ग्रन्थों की सूचना दी है।

"डॉ. एफ. ई. के. ने 'कबीर एण्ड हिज फालोवर्स' (1931 ई.) में कबीरपन्थी साहित्य का उल्लेख करते हुए 38 कृतियों का उल्लेख किया। डॉ. रामकुमार वर्मा ने 'सन्त कबीर' (सन् 1943 ई.) में नागरी प्रचारिणी सभा के 1922 ई. तक के खोज विवरण को आधार बनाकर कबीर के नाम से प्रचलित 85 ग्रन्थों का उल्लेख किया। सन् 1943 ई. तक के सभा के खोज–विवरण के आधार पर कबीर के नाम से उल्लिखित ग्रन्थों की संख्या 130 और 1955 ई. तक के खोज–विवरण के आधार पर यह संख्या 158 तक पहुँच जाती है। निश्चित है कि यह सारा कृतित्त्व कबीर का नहीं है। यह कबीर और कबीरपन्थी संतों की रचनाओं की मिली–जुली संख्या है।" (डॉ. रामचन्द्र तिवारी; कबीर–मीमांसा; पृ. 42)

इन तमाम रचनाओं में से छान–बीनकर प्रमाणिक पाठ–सम्पादन करने के प्रयास कई विद्वानों ने किये हैं, जिनमें से कुछ प्रमुख इस प्रकार हैं–

कबीर वचनावली– अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध (1916ई.)
कबीर ग्रन्थावली– श्यामसुन्दर दास (1528ई.)
सन्त कबीर– डॉ. रामकुमार वर्मा (1943ई.)
कबीर ग्रन्थावली– डॉ. पारसनाथ तिवारी (1961ई.)
कबीर ग्रन्थावली– डॉ. माताप्रसाद गुप्त (1969ई.)
कबीर बीजक– डॉ. शुकदेव सिंह (1971ई.)
रमैनी– डॉ. जयदेव सिंह, वासुदेव सिंह (1974ई.)

अब प्रश्न उठता है कि कबीर का काव्य कैसा है? उसका स्वरूप कैसा है और उसकी सामर्थ्य क्या है? स्पष्टतया कबीर का उद्देश्य मात्र कविता करना और उसके माध्यम से प्रसिद्धि पा लेना भर नहीं था। उनका प्रमुख उद्देश्य समाज की दशा–दिशा बदलना था और इस तरह उनकी कविता के दो प्रमुख विषय या कारण सामने आते हैं– एक अपने आध्यात्मिक अनुभवों को व्यक्त करना और दूसरा व्यक्ति और उसे प्रभावित करने वाले धर्म एवं समाज में जो भी कमी है, उसके प्रति सचेत करते हुए उसे सही दिशा बतलाना। आध्यात्मिक अनुभव कबीर के नितान्त निजी थे, उन्हें व्यक्त करने की उन्हें जरूरत भी न थी, परन्तु उन्होंने उन्हें प्रकट किया है तो उसका एक कारण व्यक्ति और समाज भी है। अपने आध्यात्मिक अनुभवों को सार्वजनिक करने लोगों को भक्ति–पथ की ओर आकृष्ट करना चाहते थे, इसलिये उन्होंने अनिर्वचनीय बताते हुए भी उन अनुभवों को वाणी दी। सामाजिक–धार्मिक विसंगतियों पर प्रहार करने के लिये उन्होंने प्रायः खण्डन–मण्डन की शैली अपनायी है तथा अपनी आध्यात्मिक अनुभूत्तियों को व्यक्त करने के लिये सरस भाषा–शैली के साथ उलटबासियों का भी सहारा लिया है।

कबीर का प्रथम उद्देश्य कविता करना भले न रहा हो, परन्तु उन्होंने जो काव्य रचा है, उससे उनके भीतर के कवि की अपार सामर्थ्य का पता चलता है। उनकी इस काव्य–प्रतिभा के सामर्थ्य को आ. रामचन्द्र शुक्ल ने भी स्वीकार किया है– 'प्रतिभा उनमें बड़ी प्रखर थी इसमें सन्देह नहीं।' (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 53) डॉ. रामकुमार वर्मा ने अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास' में लिखा है– "कबीर का काव्य बहुत स्पष्ट और प्रभावशाली है। यद्यपि कबीर ने पिंगल और अलंकार के आधार पर काव्य–रचना नहीं की तथापि उनकी काव्यानुभूति इतनी उत्कृष्ट थी कि वे सरलता से महाकवि कहे जा सकते हैं। कविता में द्वन्द और अलंकार गौण है। सन्देश प्रधान है। कबीर ने अपनी कविता में महान सन्देश दिया है।" (पृ. 266)

कविता के दो पक्ष होते हैं– 1. भाव पक्ष और 2. कला पक्ष। इन्हीं को अनुभूति पक्ष और अभिव्यक्ति पक्ष भी कहते हैं। इन्हीं दोनों आधारों पर किसी कवि के काव्य की परख की जाती है। अब हम आगे इन्हीं दोनों दृष्टियों से कबीर के काव्य पर चर्चा करेंगे।

3.5.1 कबीर–काव्य का भाव–पक्ष

इस दृष्टि से देखें तो कबीर के काव्य के दो पक्ष प्रधानतः सामने आते हैं– 1. आध्यात्मिक और 2. सामाजिक। कबीर भक्त कवि हैं। अतः उनके काव्य में स्वाभाविक रूप से भक्ति–भावना की प्रधानता देखने को मिलती है। इसी से जुड़ी हुई रहस्यवादी भावनाएँ एवं दार्शनिक चिन्तन भी उनके काव्य में समाहित है। कबीर की भक्ति भाव–भक्ति है, इसलिये उसमें नीरसता नहीं सरसता है। वे कहते हैं–

का जप तप व्रत संजम, का ब्रज का अस्नान।
जब लगि जुगति न जानिए, भाव भगति भगवान।।

जप तप, व्रत, संयम का पालन करना, तीर्थस्थलों पर जाना और वहाँ जाकर नदियों में स्नान करना– इस सबसे कुछ नहीं होगा, जब तक भगवान के प्रति भाव–भक्ति करने की युक्ति नहीं जानोगे। और यह युक्ति क्या है? युक्ति है– प्रेम। ईश्वर के प्रति निष्काम, निष्कपट और तन्मय प्रेम। कबीर की कविता की ताकत भी इसी प्रेम में छिपी है। निर्गुण भक्ति से सम्बन्धित अनुभवों जिन्हें कबीर अकथनीय और अनिर्वचनीय कहते हैं, के वर्णनों में वह सरसता नहीं आ सकती थी। अतः कबीर की भक्ति भले निर्गुण है, पर उन्होंने उसे सगुण रूपको में बाँधकर प्रस्तुत करके प्रभावशाली भी बना दिया है और सहज–बोध्य भी कर दिया है। ईश्वर से उनका कहीं सेवक और स्वामी का सम्बन्ध है तो कहीं सन्तान और माँ का। कहीं प्रेमी–प्रेमिका भाव से वे परमात्मा और जीवात्मा के सम्बन्धों को अभिव्यक्ति देते दिखायी देते हैं तो कहीं पति–पत्नी के रूप में। माधुर्य, दास्य और वात्सल्य रूपों में बड़ी प्रभावी अभिव्यक्तियाँ उन्होंने की हैं, विशेषकर माधुर्य भाव की भक्ति से सम्बन्धित उनकी कविता तो देखते ही बनती है। पति–पत्नी और प्रेमी–प्रेमिका के लौकिक विरह–मिलन की तरह ही उन्होंने ब्रह्म और जीव के अलौकिक विरह–मिलन के अनेकशः गीत गाये हैं। इनमें बड़ी मार्मिकता है, क्योंकि उनकी कविता मात्र उनके कण्ठ से नहीं फूटी है, हृदय से निःसृत हुई है, मन से निकली है। 'दुलहिनी गावहु मंगलचार, हम घर आये हो राजा राम भरतार,' अब तोहि जान न दैहों राम प्यारे, ज्यों भावै त्यों होहु हमारे; 'आँखड़ियाँ झाईं पड़ी पन्थ निहारि निहारि, जीभड़ियाँ छाला पड़ा राम पुकारि पुकारि;' 'घूँघट के पट खोल रे तोहि पीव मिलेंगे;' 'साहिब है रँगरेज चुनरी मेरी रंग डारी;' 'पिया ऊँची रे अटरिया तोरी देखन चली;' 'खेल ले नैहरवा दिन चार;' 'पिया मेरा जागे मैं कैसे सोई री;' 'नैहर मैं दाग लगाय आई चुनरी; 'भीगै चुनरिया प्रेम–रस बूँदन' जैसी कितनी ही कविताएँ कबीर की ऐसी हैं जो लोक–संवेदना के माध्यम से आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना कराती हैं। आत्मा–परमात्मा के ऐसे ही मिलन–क्षणों की अनुभूतियों को रहस्यवाद कहा जाता है, जिसकी गहरी अभिव्यक्ति कबीर में हुई है। इसके साथ ही कबीर ने ब्रह्म, जीव, जगत, माया, मोक्ष आदि से सम्बन्धित अपने दार्शनिक विचारों को भी काव्यात्मक अभिव्यक्ति दी है, जैसे माया के बारे में बताते हुए वे कहते हैं– 'माया महाठगिनी हम जानी।' इसी तरह से वे उसे राम की दुलहिन बताते हुए कहते हैं– 'रमैया की दुलहिन लूटो बजार।' जगत् और जीव की निस्सारता को बताने के लिये भी उन्होंने बड़ी सुन्दर और आलंकारिक उक्तियाँ की हैं, जैसे जगत् के बारे में बताते हुए वे कहते हैं–

कबिरा यह संसार है जैसे सेमल फूल।
दस दिन के व्यवहार को झूठे रंग न भूल।'

ऐसे ही मोक्ष की अवधारणा को बड़े सरस और सरल तरीकों से उन्होंने अनेक कविताओं द्वारा समझाया है। एक उदाहरण देखें–

पानी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कछु था सोई भया, अब कछु कहा न जाइ।।

सामाजिक पक्ष के अन्तर्गत कबीर के वे रचनाएँ आती हैं जिनमें वे समाज को प्रबोधन देते हुए नजर आते हैं। समाज में जो कुछ गलत है, उसकी निन्दा करते है। धर्म में जो कुछ गलत है, उसकी आलोचना करते हैं। व्यक्ति में जो बुराई है, उसे निकाल दूर फेंकने का आह्वान करते हैं। ऐसे स्थलों पर कहीं उनका स्वर तीखा और कटु भी हो जाता है और वे बड़ी आक्रोशपूर्ण भाषा अपना लेते हैं। 'साधो, देखो जग बौराना;' 'मेरा–तेरा मनुआँ कैसे एक होई रे'; 'लोका मति के भोरा रे'; पांडे न करसी वाद–विवाद'; 'पंण्डित वाद वदंते झूठा'; 'पांडे बूझि पियहु तुम पानी'; 'साधो एक रूप सब मांही'; 'मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा' जैसे कितने ही पद कबीर के ऐसे हैं जिनमे वे कहीं अपने प्रतिपक्षी से मजबूती से लोहा लेते नजर आते हैं, कहीं अन्धविश्वासी लोगों को लताड़ते हुए दिखते हैं तो कहीं अपने सामने बैठे लोगों को प्रेम से समझाते दिखते हैं। ऐसे स्थलों पर उनके विचारों की प्रखरता और भाषा का प्रवाह देखते ही बनता है।

कुल मिलाकर कबीर–काव्य के भाव पक्ष के बारे में डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल की यह टिप्पणी विचारणीय है– 'कबीर की काव्य–संवेदना राम भावना, काम भावना और समाज भावना को एक साथ धारण करती है। इन तीनों के सर्जनात्मक सह अस्तित्त्व को पढ़े बिना, कबीर को पढ़ने के सभी दावे व्यर्थ है।'' (अकथ कहानी प्रेम की; पृ. 20) पुरुषोत्तम अग्रवाल जी की ही कबीर–काव्य के सन्दर्भ में एक और टिप्पणी द्रष्टव्य है– "कविता की चर्चा के प्रसंग में खास ध्यान देने की बात यह है कि कबीर की कविता प्रेम की केवल मधुर पुकार भर नहीं है। वह श्रोता को कन्धों से पकड़कर झिंझोड़ भी देती है। कबीर का व्यंग्य नेमी–धर्मी पंडितों, शरीयत के पाबन्द मौलानाओं और करामातें दिखाने वाले जोगियों, पीरों पर ही नहीं है, वह आप पर भी व्यंग्य है, और अपने आप पर भी। कबीर का प्रेम चूँकि खरा है, इसलिये आपको हमेशा प्यारे–प्यारे वातावरण में ही नहीं रखता। जरूरत पड़ने पर झकझोर कर आपको अपने खुद के पाखंड और गुमान की हकीकत भी दिखा देता है।...''(वही पृ. 398)

3.5.2 **कला पक्ष**

कला पक्ष को शिल्प पक्ष भी कहा जाता है। इसके अन्तर्गत भाषा, शैली, काव्य–रूप, अलंकार, छन्द आदि तत्त्वों का विवेचन किया जाता है। कवि अपनी भावनाओं को अभिव्यक्त करने के लिये जिन कला–साधनों या शिल्पगत उपकरणों का प्रयोग करता है, वे ही इसके अन्तर्गत आते हैं। कबीर की काव्य–कला की विशेषताओं को हम निम्नलिखित उपशीर्षकों के अन्तर्गत रखकर देख सकते हैं–

3.5.2.1 **काव्य–रूप :**

रूप की दृष्टि से काव्य के प्रधानतः दो प्रकार होते हैं– एक प्रबन्ध और दूसरा मुक्तक। बहुत सरल तरीके से कहें तो जो काव्य किसी कथा को आधार बनाकर लिखा जाता है या जो कविता किसी कथा से बँधी होती है, उसे प्रबन्ध कविता या प्रबन्ध–काव्य कहा जाता है। जो

काव्य किसी कथा से बँधा हुआ नहीं होता है और जहां प्रत्येक कविता अपना एक स्वतन्त्र एवं पूर्ण अर्थ रखती है, उसे मुक्तक काव्य कहा जाता है। कबीर की कविताओं का प्राचीनतम संग्रह 'बीजक' माना जाता है। इसके तीन भाग किये गये हैं– साखी, सबद और रमैनी। 'साखी' दोहों की तर्ज पर लिखी गयी हैं, 'सबद' पद के रूप में और 'रमैनी' प्रायः चौपाई जैसे छन्द में। 'बीजक' में कोई एक कथा नहीं है, जैसे 'रामचरितमानस' या 'पद्मावत' में है। विभिन्न विषयों पर स्वतन्त्र रूप से रचनाएँ रची गयी हैं जिनका अर्थ जानने के लिये आगे की या पीछे की रचना पढ़ना अनिवार्य नहीं। इसलिये कबीर का काव्य मुक्तक रूप में ही निंबद्ध है, प्रबन्ध रूप में नहीं।

3.5.2.2 भाषा

कबीर ने किस भाषा में अपना काव्य रचा है, इस प्रश्न पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। इसका कारण यह है कि कबीर की भाषा का कोई एक रूप नहीं है। इसलिये उनकी भाषा को 'सधुक्कड़ी' और 'पंचमेल खिचड़ी' जैसे नाम तक दिये गये हैं। आ. रामचन्द्र शुक्ल ने कबीर–कृत साखी, सबदी और रमैनी की भाषा की अलग–अलग विशेषता बताते हुए लिखा है– "साम्प्रदायिक शिक्षा और सिद्धान्त के उपदेश मुख्यतः 'साखी' के भीतर हैं जो दोहों में हैं। इसकी भाषा सधुक्कड़ी अर्थात् राजस्थानी, पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर 'रमैनी' और 'सबद' में गाने के पद हैं जिनमें काव्य की ब्रजभाषा और कहीं–कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।.... "यह कहा जा सकता है कि कबीर की भाषा भले ही पंजाबी, राजस्थानी, ब्रज, अवधी, भोजपुरी, खड़ी बोली और अरबी–फारसी आदि भाषाओं–बोलियों के शब्दों को अपने में समाहित कर एक मिश्रित स्वरूप लिये हुए हमारे सामने आती हो, पर वह है बहुत सक्षम। वह अकृत्रिम, अनलंकृत, सहज लोक भाषा का स्वरूप लिये हुए है, जो पूरी तरह से कवि की भावनुगामिनी है। कबीर को जो उससे कहलाना था, वह उन्होंने बड़े समर्थ ढंग से कहलवा लिया है। इस सन्दर्भ में आ. हजारीप्रसाद द्विवेदी का एक बहुत प्रसिद्ध कथन उल्लेखनीय है– "भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया– बन गया तो सीधे–सीधे, नहीं तो दरेरा देकर। भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार सी नजर आती है, उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवा फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाही कर सके।...." (कबीर पृ. 170) कबीर की संधा भाषा भी चर्चित है जो उन्होंने उलटवासियों में अपनायी है।

3.5.2.3 छन्द–विधान एवं सगीतात्मकता

कबीर ने अपनी काव्य–रचना के लिये तीन शैलियाँ–साखी, सबद और रमैनी विशेष तौर पर अपनायी हैं। इन्हीं में विद्वानों ने कई छन्दों की खोज की है और कुल मिलाकर यह संख्या 30 तक बतायी है। कबीर ने काव्यशास्त्र का औपचारिक अध्ययन नहीं किया था, इसलिये उनके यहाँ छन्द की शुद्धता पर बहुत आग्रह नहीं है। उन्होंने लय के अनुसार छन्द–चयन और निर्माण किया है। उनकी रचनाएँ विशेषकर सबद गेय हैं। उनको लोक–धुनों में बाँधकर भी (भजन मण्डलियों में) गाया जाता है और शास्त्रीय गायकों द्वारा उनकी सफल प्रस्तुतियाँ भी हुई हैं। उनके छन्दों में संगीतात्मकता का गुण इतना जबरदस्त है कि उनमें विभिन्न राग–रागिनियों, जैसे– गडड़ी, आसा, गूजरी, धनासरी, तिलंग, विलावलु आदि तक की पहचान की गयी है और तदनुसार उनकी प्रस्तुतियाँ हुई हैं।

3.5.2.4 अलंकार–विधान

कबीर ने सायास भले अलंकारों का प्रयोग न किया हो, पर अनायास भी उनकी कविता में अनेक प्रकार के अलंकार बड़े मनोहारी ढँग से आ गये हैं। शब्दालंकार और अर्थालंकार दोनों उनके यहाँ देखने को मिल जाते हैं। अनुप्रास, पुनरुक्तिप्रकाश, उपमा, रूपक, अतिशयोक्ति, विरोधाभास, उत्प्रेक्षा, अन्योक्ति, रूपकातिशयोक्ति, दृष्टान्त, विभावना आदि प्रायः सभी प्रमुख अलंकार उनके यहाँ कम या अधिक मात्रा में मिल जाते हैं और उनकी अभिव्यक्ति को और भी प्रभावी बना जाते है। यहाँ कबीर–काव्य से कुछ अलंकारों के उदाहरण द्रष्टव्य हैं–

– एक अचम्भा देखा रे भाई। ठाड़ा सिंह चरावै गाई। –विरोधाभास, रूपकातिशयोक्ति

– माली आवत देखकर कलियन करी पुकार।
फूले फूले चुनि लिये काल्हि हमारी बार।। –अन्योक्ति

– माया दीपक नर पतंग भ्रमि भ्रमि इवै पड़न्त –रूपक, पुनरुक्ति प्रकाश

इस प्रकार कह सकते हैं कि कबीर का काव्य जीवन से जुड़ा हुआ है, समाज उसके केन्द्र में है। लक्ष्य भले उनका आकाश हो, पर चिन्ता धरती की भी है; क्योकि पैर जमीन पर हैं। भले ही कबीर के कवि रूप को लेकर थोड़ी–बहुत किन्तु–परन्तु विद्वानों के बीच रही हो, पर क्या भाव और क्या शिल्प के स्तर पर यह कवि किसी से भी होड़ लेने में सक्षम है। उन्हें जो कहना था, वह उनकी कविता कह पायी है और जहाँ तक उनकी बात पहुँचनी थी, वहाँ तक वह पहुँच पायी है। अतः आ. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उनका मूल्यांकन करते हुए ठीक ही कहा है– "हिन्दी साहित्य के हजार वर्षों के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नहीं हुआ। महिमा में यह व्यक्ति केवल एक ही प्रतिद्वन्दी जानता है : तुलसीदास।" (कबीर, पृ. 70)

3.6 कबीर की सामाजिक चेतना

हिन्दी का भक्तिकालीन साहित्य केवल मुनष्य और ईश्वर के बीच के सम्बन्ध को प्रगाढ़ बनाने वाला साहित्य नहीं है, अपितु वह मनुष्य और मनुष्य के बीच के सम्बन्धों को सुधारने वाला साहित्य भी है। इस साहित्य ने जनजीवन में जो जागृति पैदा की, उसके कारण डॉ. रामविलास शर्मा ने तो इसे लोकजागरण का साहित्य कहा हैं। इस काल के भक्त कवियों की रचनाएँ लोगों को बेसुध नहीं बनातीं, बल्कि जगाती हैं। भक्ति–साहित्य के इस लोक–जागरण पक्ष को देखें या सामाजिक सरोकारों की बात करें तो चारो प्रमुख कवियों में से कबीर और तुलसी अधिक महत्वपूर्ण प्रतीत होते हैं। अपने समय और समाज में जैसा प्रत्यक्ष हस्तक्षेप इन दोनों कवियों का दिखायी देता है, वैसा दूसरों का नहीं। एक तरह से कहा जाये तो कविता इनका उद्देश्य नहीं थी, उद्देश्य समाज–सुधार था, लोकसुधार था, जनसुधार था– जिसके लिये इन्होंने कविता को साधन बनाया। परलौकिक जीवन जरूर इनके चिन्तन के केन्द्र में था, पर धरती के जीवन को भी उन्नत बनाने की चिन्ता उनके यहाँ है।

कबीर–काव्य के सामाजिक पक्ष पर बात करें, उससे पहले उनके समय के समाज की थोड़ी सी चर्चा कर लेना आवश्यक होगा। कबीर के समय के समाज की समस्या को हम दो स्तरों पर समझ सकते हैं एक तो वैयक्तिक स्तर और दूसरा सामुदायिक स्तर। सामुदायिक स्तर पर यदि हम देखें तो समाज धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक आदि दृष्टियों से अनेक खाचों में बँटा हुआ था। समाज में आर्थिक असमानता की गहरी खाई थी तो जातिगत विषमता की समस्या भी कोई छोटी समस्या नहीं थी। अनेक पन्थ–सम्प्रदाय अपने–अपने मतों के प्रचार

द्वारा जनता को लुभाने की चेष्टा कर धार्मिक क्षेत्र में एक भ्रम का वातावरण बनाये हुए थे। ऐसे में एक बाहरी धर्म इस्लाम ने आकर इस धार्मिक प्रतिस्पर्धा को और भी बढ़ा दिया था। जिसके कारण समय–असमय समाज में टकराहट की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। एक तरफ यह सामाजिक समस्या थी तो दूसरी ओर व्यक्ति–मात्र के आचरण में सुधार का बड़ा प्रश्न भी भक्त–कवियों के समक्ष उपस्थित था। कबीर ने व्यक्ति–चरित्र को बदलने और सुधारने से भी सम्बन्धित बड़े सन्देश अपने काव्य के माध्यम से दिये। आगे हम कबीर के इन्हीं प्रयासों को कुछ बिन्दुओं के अन्तर्गत समझने का प्रयास करेंगे।

3.6.1 हिन्दू–मुस्लिम एकता पर बल

कबीर के समय में हिन्दू–मुस्लिम दो बड़े धर्म एक–दूसरे के प्रतिस्पर्धी थे। इनमें अपने–अपने धर्म की श्रेष्ठता के दावे को लेकर द्वन्द्व की स्थिति उत्पन्न होती रहती थी। कबीर ने दोनों धर्मों के अनुयायियों को फटकारा और उनको उनकी वास्तविकता का आईना दिखाते हुए आ. रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है–"उपासना के बाह्य स्वरूप पर आग्रह करने वाले और कर्मकाण्ड को प्रधानता देने वाले पंडितों और मुल्लों दोनों को उन्होंने खरी–खरी सुनायी और राम–रहीम की एकता समझकर हृदय को शुद्ध और प्रेममय करने का उपदेश दिया। देशाचार और उपासना विधि के कारण मनुष्य में जो भेदभाव उत्पन्न हो जाता है, उसे दूर करने का प्रयास उनकी वाणी बराबर करती रही।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 51)

अपनी पूजा–पद्धति को श्रेष्ठ मानना और दूसरे की पूजा–पद्धति में दोष ढूँढ़ना यह समुदायों में कलह का कारण बनता है। कबीर ने हिन्दू–मुस्लिम दोनों धर्मों की पूजा–पद्धतियों में खोट निकाला और उन्हें इस आधार पर आपस में न उलझने का सन्देश दिया। जहाँ उन्होंने 'दुनिया ऐसी बाबरी पाथर पूजन जाय। घर की चाकी कोई न पूजै जिसका पीसा खाय' जैसी बातें कहकर हिन्दुओं की आलोचना की, तो वहीं 'काँकर पाथर जोरि कर मस्जिद लई बनाय। ता चढ़ि मुल्ला बाँग दे क्या बहिरा हुआ खुदाय' जैसी अनेक तीखी उक्तियों के द्वारा मुसलमानों की निन्दा की। अपने एक पद में वे कहते हैं–

अरे इन दोउन राह न पाई।
हिन्दू अपनी करे बड़ाई गागर छुवन न देई।
बेस्या के पाइन–तर सोवै यह देखो हिन्दुआई।
मुसलमान के पीर–औलिया मुर्गा–मुर्गी खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं घरहि में करैं सगाई।

इसी पद में आगे वे कहते हैं–

हिन्दुन की हिंदुआई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहै कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई।

दोनों धर्मों की कमियों को समझकर कबीर ने जो रास्ता चुना, उस पर चलने को लोग तैयार नहीं थे– कबीर को दुख इस बात का था। दुख इस बात का था कि लोग सच पर नहीं, झूठ पर विश्वास करते हैं–

साधो, देखो जग बौराना।
साँची कहौ तौ मारन धावै झूठे जग पतियाना।
हिन्दू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना।
आपस में दोऊ लड़े मरत हैं मरम कोई नहिं जाना।

कबीर की दृष्टि में यह मर्म क्या था? मर्म था यह, कि राम और रहमान दोनों अलग–अलग नहीं हैं। दोनों एक हैं और उनको पाने–खोजने के लिये मन्दिर या मस्जिद में जाने की जरूरत नहीं है और न ही किसी साधना या क्रिया–कर्म की। वह तो सर्वत्र सुलभ है। इसलिये उनका ईश्वर तो कहता है कि वह तो हरेक के लिये हरेक स्थान पर उपलब्ध है, बस उसे कोई खोजने वाला हो–

मोको कहाँ ढूँढू बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल ना मैं मस्जिद, ना काबे कैलास में।
ना तो कौने क्रिया–कर्म में, न ही योग बैराग में।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं, पल भर की तालास में।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँस में।

यह थी कबीर की समाज को बड़ी देन, जिसमें उन्होंने धर्म के आधार पर समाज में फैले झगड़े को ईश्वर की एकता का निदर्शन कराकर मिटाने का प्रयास किया। डॉ. बच्चन सिंह ने कबीर के इस अवदान पर टिप्पणी करते हुए लिखा है– "कबीर पहले व्यक्ति हैं जिन्होंने विभिन्न धर्मों, सम्प्रदायों, जातियों, वर्णों को नकारकर ऐसे समाज की स्थापना का प्रयास किया जिसमें धर्म, सम्प्रदाय, ऊँच–नीच के भेदभाव के लिये कोई स्थान नहीं है। उनके समाज में न कोई हिन्दू है, न मुसलमान–सब मनुष्य हैं, कोई किसी से छोटा–बड़ा नहीं है।"

3.6.2 जाति–पाँति का विरोध

भारत मे मनुष्य–मनुष्य में भेद करने का एक बड़ा कारक जाति रही है। इसके कारण कोई मनुष्य ऊँचा तो कोई नीचा समझा जाता है। जातिगत ऊँच–नीच के इस विचार में कुछ जातियाँ तो इतनी नीची समझी गयीं कि उनके साथ अस्पृश्यता का वर्ताव तक किया गया। कबीर स्वयं इस जाति–व्यवस्था में निचले पायदान पर आते थे। अतः उन्होंने स्वयं भी इसके दंश को महसूस किया था। लेकिन, वे इस कारण से कमजोर नहीं पड़े, अपितु उन्होंने इसका मुकाबला किया और पूरे स्वाभिमान के साथ इसे ललकारा। जाति और धर्म दोनों को लेकर जिन लोगों में श्रेष्ठता–बोध था, कबीर ने उन्हें चुनौती दी और बड़े तीखे शब्दों में इस ऊँच–नीच और छुआ–छूत के विचार की भर्त्सना की। हिन्दुओं में जाति की दृष्टि से सर्वोच्च आसन पर विराजमान जहाँ ब्राह्मण वर्ग को उन्होंने इन शब्दों में फटकारा कि 'जो तू बाम्हन बाम्हनी जाया तौ आन वाट ह्वै क्यों न आया' (यदि तू ब्राह्मण–ब्राह्मणी से पैदा है तो किसी अन्य तरीके से क्यों नहीं जन्मा) तो वहीं इस्लाम के अनुयायियों को ललकारा–'जो तू तुरक तुरकिन जाया, तो अन्दर खतना क्यों न कराया।' (यदि तू मुसलमान से पैदा है तो पैदा होने से पहले ही खतना कराकर क्यों नहीं जन्मा)

कबीर ने मनुष्य–मनुष्य में भेद–दृष्टि की पोल खोलकर रख दी, फिर चाहे वह भेद जाति–धर्म ही नहीं, लिंग सम्बन्धी भी क्यों न हो। आत्मज्ञानी की दृष्टि में तो स्त्री–पुरुष का भेद भी निस्सार है। इसलिये कबीर कहते हैं–

ऐसा भेद विगूचन भारी।
बेद कितेव दीन अरु दुनिया कौन पुरुष कौन नारी।
एक बूँद एकै मलमूतर– एक चाम एक गूदा।
एक जोति से सब उत्पन्ना कौन वामन कौन सूदा।

जब सब एक ही तरीके से पैदा हुए हैं, सबका एक ही जैसा शरीर और उसकी गतिविधियाँ हैं, एक ही परमात्मा की ज्योति से सबक जीवन प्रकाशित है तो फिर स्त्री–पुरुष, ब्राह्मण–शूद्र जैसा भेद–भाव कैसा? इसलिये कबीर ने अपने भक्ति–पथ में सभी के लिये साथ चलना आसान कर दिया। जो भक्ति मार्ग पर आ गया, उसकी बस एक ही जात रह गयी– भक्त की। उन्होंने भक्तों को यह एक मूलमन्त्र थमा दिया जो साधना की सफलता के लिये जितना आवश्यक है, मानवता के कल्याण के लिये भी उतना ही अपरिहार्य है–

'जाति–पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई।'

जो सन्त बन गया, जिसको गुरु–कृपा मिल गयी, आत्म साक्षात्कार के रास्ते पर आगे बढ़ चला– उसकी जाति, कुल–खानदान सम्बन्धी समस्त पहचानें मिट गयीं– 'जाति–पाँति कुल सब मिटे नाम धरौगे कौन?' सन्तो की मण्डली में तो हर जाति, हर धर्म के लोग सम्मिलित रहते हैं पर उनकी एक ही पहचान रह जाती है– सन्त की। कबीर का एक पद इस सम्बन्ध में बड़ा महत्त्वपूर्ण है–

संतन जात न पूछो निरगुनियाँ।
साध ब्राह्मन साध छतरी, साधै जाती बनियाँ।
साधनमाँ छत्तीस कौम है, टेढ़ी तोर पुछनियाँ।
साधै नाऊ साधै धोबी, साधैं जाति है बरियाँ।
साधन माँ रैदास संत हैं, सुपच ऋषि सो भँगिया।
हिन्दु–तुर्क दुइ दीन बने हैं, कछू नहीं पहचनियाँ।

3.6.3 आचरण की शुद्धता पर जोर

समाज व्यक्तियों से बनता है और स्पष्टतः कोई भी समाज अपने समूह के सदस्यों के अच्छे–बुरे होने से ही अच्छा–बुरा हो सकता है। भक्ति–साहित्य की यह एक बड़ी विशेषता रही कि इसने लोगों को ईश्वर से जोड़ने का तो प्रयास किया ही, लोगों को लोगों से जोड़ने की दृष्टि से भी बहुत कुछ दिया। कबीर के यहाँ मनुष्य के परमात्मा से मिलन की पहली शर्त थी कि वह स्वयं को इसके योग्य बनाये। योग्य बनने का मतलब था आचारण की शुद्धता द्वारा अपने अन्तःकरण को पवित्र बनाना। इसके लिये आवश्यक है कि व्यक्ति सच्चाई को जीवन में अपनाये, झूठ से बचे, अपने अहंकार को त्याग दे, मांसाहार छोड़ दे, जीवों पर दया करे, परोपकार में रत रहे, अपने अन्दर के लालच और लोभ को छोड़े आदि–आदि। डॉ. विजयेन्द्र स्नातक ने अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में लिखा है– "कबीर ने समाज में व्याप्त दुराचार, पाखण्ड, छल–कपट, अन्धविश्वास और जड़ रूढ़ियों का तीव्र विरोध किया। वैसा न तो उनसे पहले कोई कर सका था और न उसके बाद में।" (पृ. 50)

कबीर ने सीधे–सीधे लोगों को समझाया कि बुरा काम करके अच्छे परिणाम की आशा नहीं की जा सकती । अपनी एक साखी में वे कहते हैं– 'चोरी करै निहाई की, करै सुई का दान। ऊँचे चढ़ि के देखि ले केतिक दूर विमान।'

सन्त कोई की बन सकता है, पर हरि–भक्ति के बाद जो दूसरी बड़ी कसौटी सन्त बनने की है, वह है– परोपकार । दूसरों का बुरा न चाहना और सबके भले के लिये अपना जीवन समर्पित करना, यह सन्त होने का लक्षण है; जिसके लिये वे वृक्ष और नदी का उदाहरण देते हैं–

बृच्छ कबहुँ नहिं फल भखैं, नदी न संचै नीर।

परमारथ के कारने , साधुन धरा शरीर।।

सन्त की किसी से दोस्ती या दुश्मनी नहीं होती। वह निरपेक्ष भाव से सभी के कल्याण की कामना करता है। इसलिये कबीर उद्घोष करते हैं–

कबिरा खड़े बजार में, सबकी माँगत खैर।
ना काहू से दोस्ती, न काहू से बैर।।

कितनी ही कविताएँ कबीर की ऐसी हैं जिनमें नैतिकता और सदाचार की सीख दी गयी है। कबीर मानते हैं कि यदि समाज में समरसता लानी है, उसे सुखी बनाना है तो दूसरों के नहीं, अपने दोष देखने की आदत डालनी होगी; जिनकी सीमा नहीं है–

दोष पराये देखकर, चला हसंत हसंत।
अपने चित्त न आवहीं, जिनका आदि न अंत।

दूसरे में अच्छाई नजर आने लगेगी, यदि हम अपनी बुराइयों को देखने लगें–

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिल्या कोइ।
जौ दिल खोजा आपना मुझसे बुरा न कोइ।।

इस प्रकार हम देखें तो कबीर–काव्य का समाजिक पक्ष काफी सशक्त है। उनके यहाँ ऐसा वैराग्यवादी विचार नहीं है कि व्यक्ति को ईश्वर को पाने के लिये सब कुछ छोड़–छाड़कर जंगल या पहाड़ के एकान्त में जाना पड़े। इसी दुनिया में, दुनिया के लोगों के बीच में रहते हुए और दुनियादारी निबाहते हुए भी भगवान को पाया जा सकता है। बस, शर्त यही है कि इसके लिये अपने को पात्र बनाया जाये और यह पात्रता सत्कर्मों से आती है, शुद्ध आचरण से आती है, अन्तःकरण को पवित्र बनाने से आती है। सदाचार के पथ पर चलने से आत्मकल्याण तो होता ही है कि ईश्वर से मिलन का रास्ता खुलता है, भवकल्याण भी होता है क्योंकि समाज में समरसता और सदाशयता आती है। कबीर की बानियों का और उनकी बानियों से प्रेरित–प्रभावित होकर आगे के सन्तों द्वारा कही गयी बानियों का आम जनता पर अच्छा–खासा प्रभाव पड़ा है जो आज तक मौजूद है। यह कबीर की समाज को बहुत बड़ी देन है। आ. रामचन्द्र शुक्ल ने ठीक ही लिखा है कि "...अशिक्षित और निम्न श्रेणी की जनता पर इन सन्त महात्माओं का बड़ा भारी उपकार है। उच्च विषयों का कुछ आभास देकर, आचरण की शुद्धता पर जोर देकर, आडम्बरों का तिरस्कार करके, आत्मगौरव का भाव उत्पन्न करके, इन्होंने इसे ऊपर उठाने का स्तुत्य प्रयत्न किया।" (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ. 46)

3.7 कबीर की क्रान्तिकारिता

'नालन्दा अद्यतन कोश' में 'क्रान्ति' का अर्थ दिया हुआ है– 'वह बहुत भारी परिवर्तन अथवा उलट–फेर जिससे किसी स्थिति का स्वरूप बिल्कुल बदलकर कुछ का कुछ हो जाये।' इस आधार पर स्पष्टतया किसी तरह की क्रान्ति के दो स्वरूप हैं– एक सशस्त्र क्रान्ति और दूसरा निःशस्त्र क्रान्ति। सशस्त्र क्रान्तियाँ दुनिया और भारत में बहुत बड़ी–बड़ी हुई हैं तो निःशस्त्र रूप में भी अनेक महान क्रान्तियाँ हुई हैं। महावीर, बुद्ध, कबीर, गाँधी जैसे न जाने कितने महामानव इस भारतभूमि पर अवतरित हुए जिन्होंने अपने समय और समाज पर अपने विचारों से ऐसा प्रभाव डाला कि आगे की शताब्दियों तक समाज उनसे प्रेरणा लेता रहा।

कबीर का उद्भव ऐसे समय में भारत में हुआ, जबकि यहाँ की अधिसंख्य जनता जड़ता के बन्धनों में बँधी किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही थी और अज्ञान तथा अन्धविश्वास के अँधेरे में फँसी हुई किसी उजाले की प्रतीक्षा कर रही थी। यह वह समय था जबकि तलवार अपने तरीके से

क्रान्ति करने में लगी थी और सत्ता एवं शक्ति के मद में चूर निरंकुश मुस्लिम शासक अपने ढँग से लोगों को धर्म–परिवर्तन के लिये विवश कर पूरे समाज को बदलने की कोशिश में लगे थे। पण्डितों–मौलवियों का अलग खेल जारी था। धर्म–कर्म के नाम पर आडम्बरों का अधिक बोल वाला था। विकृति समाज में भी थी और निजी जीवन में भी। ऐसे में कबीर का काम कोई आसान नहीं था, लेकिन उन्होंने कर दिखाया। डॉ. बच्चन सिंह का मानना है कि "सामन्ती समाज की जड़ता को तोड़ने का जितना काम अकेले कबीर ने किया उतना अन्य सन्तों और सगुणमार्गियों ने मिलकर भी नहीं किया। उनकी चोटों की मार से, जातिवाद के संरक्षक पण्डित और मौलवी समान रूप से दुखी हैं। वे सबसे अधिक आधुनिक और सबसे अधिक प्रासंगिक है।" (हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ. 88)

एक कठिन समय में और अपने लिये लगातार विरोध के वातावरण में कबीर कैसे और कैसी क्रान्ति कर पाये हैं, इसे जानने–समझने के लिये कुछ तथ्यों को सामने रखना आवश्यकता होगा जिन्हें निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत आगे प्रस्तुत किया जा रहा है–

3.7.1. धार्मिक क्षेत्र में क्रान्ति

कबीरदास का एक बड़ा योगदान धर्म–सुधार के क्षेत्र में है। जिस समय हिन्दू और मुस्लिम दो बड़े प्रतिद्वन्दी धर्मों के कट्टरपन्थी लोग धर्म के नाम पर लोगों को लड़ाने में लगे थे, पुरोहित और मुल्ला लोगों की धार्मिक भावनाओं का दोहन कर अपना उल्लू सीधा करने में लगे थे, तरह–तरह की साधना–पद्धतियों के चमत्कारिक प्रभावों द्वारा लोगों को भरमाने वाले मतों–सम्प्रदायों की कमी नहीं थी, आम जन बाह्याडम्बरों से घिरकर उन्हीं में अपनी मुक्ति का मार्ग खोज रहे थे, उस समय कबीर ने इन सबकी तीखी भर्त्सना की और लोगों को भक्ति का सीधा–सादा पथ दिखाया। कबीर ने भक्ति का ऐसा सहज मार्ग चलाया कि धीरे–धीरे करके बहुत सारे लोग उससे जुड़ते चले गये और कालान्तर में वह 'कबीर पन्थ' नाम से ही प्रसिद्ध हो गया। डॉ. बच्चन सिंह अपने ग्रन्थ 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' में लिखते हैं– "वे धर्म के माध्यम से समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तन लाना चाहते थे। वे कोई पन्थ खड़ा करने के पक्षपाती नहीं थे। वे ऐसे समाज की स्थापना करना चाहते थे जिसमें न कोई हिन्दू हो न मुसलमान, न पूजा हो न नमाज, न पंडित हो न मुल्ला, सिर्फ इन्सान हो।' (पृ. 88)

कबीर ने अपने बारे में 'न हिन्दू न मुसलमान' का उद्घोष करते हुए हिन्दू और मुस्लिम दोनों की धार्मिक मान्यताओं और क्रियाकलापों का जबरदस्त विरोध किया। जिस चुटीली भाषा में कबीर ने प्रचलित धार्मिक विश्वासों और रीति–रिवाजों का खण्डन किया है, वैसा आज तो सम्भव ही नहीं है और उस समय भी बहुत बड़े साहस का ही काम था। जब वे इस तरह की बातें कहते होंगे तो समझा जा सकता है कि परम्परावादियों की कैसी प्रतिक्रिया होती होगी–

न जानै तेरा साहब कैसा है।
मुल्ला होकर बाँग जो देवै, क्या तेरा साहब बहरा है।
माला फेरी तिलक लगाया, लम्बी जटा बढ़ाता है।
अन्तर तेरे कुफर कटारी यों नहीं साहब मिलता है।

ऐसी कितनी ही चुभती हुई उक्तियाँ कबीर के काव्य में प्राप्त होती हैं। वे साफ कहते हैं– 'पंडित मुल्ला जो लिख दिया, छांड़ि चले हम कछु न लिया।' वस्तुतः कबीर इतने साहस के साथ ये बातें इसलिये कह पाये, क्योंकि वे निष्पक्ष थे। उनकी वाणी और कर्म में द्वैत नहीं था। 'ना काहू से दोस्ती ना काहू से बैर' को अपना ध्येय–वाक्य बनाने वाले कबीर ने

जहाँ भी गलत देखा है, उसका विरोध किया है। वे सच्चाई के साथ खड़े हैं, अच्छाई के साथ खड़े हैं। गलत कहीं पर भी हो रहा हो, उसे करने वाला कोई भी हो, कबीर उसकी निन्दा करने से चूकते। कबीर ने अपने अनेक पदों में वैष्णवों की प्रशंसा की है। वे उनकी बहुत सी बातों से प्रभावित थे। लेकिन यदि उन्हें वहाँ भी कुछ गलत लगा तो कहने से चूके नहीं। वे कहते हैं–

कबीर वैश्नों भया तो क्या भया, बूझा नही बिबेक।
छापा तिलक बनाइ कर, दग्ध्या लोक अनेक।।

वास्तव में तो कबीर का उद्देश्य धर्म में सुधार करना नहीं, अपितु बदलाव करना था। विभिन्न मत–मतान्तरों में फैले और अपनी–अपनी जगह पर अडिग पण्डितों–मुल्लाओं–मठाधीशों के धर्म में सुधार की सम्भावना भी बहुत कम थी। इसलिये उन्होंने बदलाव का एक नया पथ प्रशस्त किया। डॉ. बच्चन सिंह ने उनके बारे में ठीक ही लिखा है– "उन्हें सुधारक कहना उनके महत्त्व को कम करना है। वे एक ऐसे धर्म की स्थापना करना चाहते थे जिसमें न कोई हिन्दू हो न मुसलमान, न कोई मौलवी हो न पुरोहित, न कोई शेख हो न बरहमन, सब मनुष्य हों। यह क्रान्तिकारी कदम था न कि सुधारवाद।" (हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ. 84)

3.7.2. सामाजिक जीवन में क्रान्ति

भारतीय समाज की सबसे बड़ी कमजोरी रही है असमानता। इस असमानता में जाति की बड़ी भूमिका है। वर्ण–व्यवस्था में तो वर्ण कर्म से निर्धारित होते थे, पर उसी के विकृत रूप जाति–व्यवस्था में जाति जन्म के आधार पर निश्चित होने लगी और तदनुसार ही व्यक्ति का स्तरीकरण होने लगा। इस व्यवस्था में ब्राह्मण सर्वोच्च स्थान पर था और निचली जातियों में से कई तो ऐसी थीं कि जिनके साथ छूआ–छूत का बर्ताव होता था। कबीर ने इस व्यवस्था को पूर्णतः नकार दिया और ब्राह्मण वर्ग को खुली चुनौती दी। यद्यपि कबीर से पहले आदिकाल में सिद्ध कवि भी इस व्यवस्था के प्रति अपना आक्रोश व्यक्त कर चुके थे, पर कबीर ने और भी तीखे ढँग से इस पर प्रहार किया। उन्होंने स्पष्ट कहा कि उच्च कुल में जन्म लेने भर से कोई ऊँचा नहीं हो जाता, अपने कर्मों से ऊँचे स्थान का आधिकारी बनता है– 'ऊँचे कुल का जनमिया जे करनी ऊँच न होय।' वे कहते थे कि एक ही बूँद से सब उत्पन्न हुए है। एक ही जैसा मलमूत्र, खाल और मांस सबके भीतर है। एक ही परमपिता परमात्मा की ज्योति सबके भीतर समायी है, उसी से सब पैदा हुए हैं फिर भला कैसा ब्राह्मण और कैसा शूद्र?

'एक बूँद एकै मलमूतर एक चाम एक गूदा।
एक जोति से सब उत्पन्न कौन वामन कौन सूदा।।'

समस्या जाति की ही नहीं थी, धर्म का आभिजात्य की लोगों में दूरियाँ पैदा किये हुए था। कबीर ने धर्म के नाम पर लड़ने–लड़ाने वालों की भी लानत–मलानत की और इस तरह की उक्तियों से हिन्दू–मुस्लिम दोनों को धिक्कारा–

जो तू बाम्हन बाम्हनी जाया, तौ आन बाट हुइ काहे न आया।
जो तू तुरक तुरकिन जाया, तौ अन्दर खतना क्यों न कराया।

वे कहते हैं कि हमने हिन्दुओं की हिन्दुआई भी देख ली और तुरकों की तुरुकाई भी। इसलिये धर्मपुरोहितो का बताया मार्ग छोड़कर अपना अलग मार्ग चुना है– 'पंडित मुल्ला जो लिख दिया। छाँड़ि चले हम कछु न लिया।'

कबीर ने जाति–धर्म सबको मिलाने के लिये अपना भक्ति–मार्ग सबके लिये खोल दिया और स्पष्ट घोषणा की कि राम कहो या खुदा; हिन्दु–तुर्क (मुस्लिम) सब की राह एक ही है–

'हिन्दू तुरक की एक राह है, सतगुरु इहै बताई।
कहैं कबीर सुनहु हो सन्तों, राम न कहेउ खुदाई।

भक्ति के पथ में जाति–भेद मिटाकर आना तो कबीर की पहली शर्त थी। उनका साफ कहना था– 'जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजिए ज्ञान।' अपने एक पद 'सन्तन जात न पूछौ निरगुनियाँ में वे बताते हैं कि हमारे साधु समाज में हर जाति के लोग हैं और उनकी कोई जातिगत पहचान यहाँ आकर नहीं बची है। इसी पद के अन्त में वे कहते हैं– 'हिन्दू तुरक दुइ दीन बने हैं, कछु नहिं पहचनियाँ।' अर्थात् सभी जातियों के ही नहीं, हिन्दू–मुसलमान दोनों धर्मों के लोग भी यहाँ आकर साधु बने हैं और उनकी अब धार्मिक पहचान समाप्त हो गयी है।

इसी तरह कबीर ने लोगों की सामाजिक मान्यताओं, सांस्कृतिक रीति–रिवाजों, व्यक्तिगत आचरणों आदि पर भी कठोर प्रहार किये हैं। यहाँ तक कि नकली साधु–सन्तों को भी उन्होंने नही बख्शा है– 'मन न रँगाये रे रँगाये जोगी कपड़ा' जैसे गीत गाकर। तुलसीदास ने आगे चलकर स्त्री के मरने और सम्पत्ति नष्ट होने से मूंड़ मुड़ाकर संन्यासी होने वालों पर यह कहकर जो व्यंग्य किया था कि 'नारि मुई घर सम्पत्ति नासी। मूंड़ मुड़ाय भये संन्यासी', वही बहुत पहले कबीर के यहाँ और चुटीले अन्दाज में अन्दाज में देखने को मिलता है–

दाढ़ी मूँछ मुड़ाइ के, हुआ जो घोटम घोट।
मन को क्यों नहिं मूड़िए, जामैं भरिया खोट।'

वे बड़े बेधक अन्दाज में छुआ–छूत का विचार रखने वाले पाण्डित से सवाल करते हैं–

'काहे को कीजै पंण्डित छूत विचारा।
छूतहि ते उपजा संसारा
तुम कैसे बामन हम कैसे सूद
हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूध।'

3.7.3. भाषा के क्षेत्र में क्रान्ति

भक्तिकाल मे साहित्य–लेखन के लिये दो भाषाओं की विशेषतया प्रधानता रही– एक ब्रज और दूसरी अवधी। सब कवियों ने इन्हीं भाषाओं में लिखा, परन्तु कबीर ने भाषा के क्षेत्र में ऐसी क्रान्ति की कि उनकी काव्य–भाषा को कोई एक नाम देना विद्वानों को मुश्किल हो गया कि यह ब्रज है या अवधी है, या भोजपुरी के रूप में मान्य है। उनके नाम से ऐसे दोहे भी प्रचलित हैं कि 'हम पूरब के पुरबिया' या 'बोली हमारी पुरब की'; परन्तु उन्होंने भाषा का कोई एक रूढ़ रूप नहीं अपनाया, जिसकी कि कोई परम्परागत एक पहचान हो सके। उनकी भाषा में विभिन्न बोलियों–भाषाओं का मिश्रण है। वे साधु थे, घूमते थे; इसलिये जहाँ जैसी आवश्यकता पड़ी, वहाँ वैसी भाषा का प्रयोग किया। यही कारण है कि भले उनके अलग–अलग पदों को किसी एक भाषा का मान लिया जाये, पर उन्होंने अपने काव्य में भाषा का मिला–जुला रूप ही चलाया है। भले उनकी भाषा को डॉ. सुनीति कुमार चटर्जी मुख्यतः ब्रजभाषा, उदयनारायण तिवारी भोजपुरी, माता प्रसाद गुप्त खड़ी बोली मानते रहें, पर तथ्य यह है कि 'व्याकरण की दृष्टि से विचार करने पर कबीर की भाषा का कोई एक निश्चित रूप निर्दिष्ट नहीं किया जा सकता।' (डॉ. रामचन्द्र तिवारी, कबीर–मीमांसा, पृ. 139) यही कारण है कि उनकी भाषा को डॉ. श्यामसुन्दर दास को पंचमेल खिचड़ी और आ. रामचन्द्र शुक्ल को

सधुक्कड़ी कहना पड़ा। डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने इस पर टिप्पणी करते हुए ठीक ही लिखा है– "जिस प्रकार कबीर का व्यक्तित्त्व निराला है, उसी प्रकार उनकी भाषा भी विशिष्ट और विरल है। वह जीवन्त भाषा है। यह वह भाषा है, जो मानव को उसके जीवन–मूल्यों से परिचित कराती है और उसके स्वतंत्र अस्तित्त्व की घोषणा करती है। वह क्रान्ति की भाषा है।....." (कबीर–मीमांसा, पृ. 141)

3.7.4. निजी जीवन में क्रान्ति

कबीर का क्रान्तिकारी स्वरूप हमें उनके काव्य में ही नहीं, जीवन में भी देखने को मिलता है। उन्होंने न केवल उन कामों को करके दिखाया जिनको करने से लोग डरते थे, साथ ही भक्ति के स्वरूप को भी बदलकर रख दिया। कबीर का जन्म हुआ काशी में जो मोक्षदायिनी नगरी मानी जाती है। लोगों में यह विश्वास न जाने कब से जड़ें जमाये हुए था कि काशी में मरने से मोक्ष मिलता है और मगहर में मरने से मुक्ति नहीं होती। कबीर ने जान–पूछकर अपने मरने का स्थान मगहर को चुना और मृत्यु से कुछ समय पूर्व काशी छोड़कर मगहर रहने चले गये। इस तरह उन्होंने लोगों के इस विश्वास का खण्डन किया। मान्यतानुसार कबीर का जन्म एक हिन्दू से हुआ और पालन–पोषण जुलाहा परिवार में हुआ। परन्तु न उन्होंने अपने को हिन्दू माना, न मुसलमान और निरपेक्ष भाव से दोनों धर्मों की असंगत लगने वाली बातों की खिल्ली उड़ायी। गुरू थे उनके रामानन्द जो सगुण रामभक्ति के प्रचार के लिये जाने जाते हैं। कबीर ने उनसे राम नाम का मन्त्र तो लिया, परन्तु उसे उलटकर निर्गुण रूप में अपना लिया। इसी तरह से साधु–सन्त बनने के लिये घर–परिवार छोड़ना आवश्यक समझा जाता था, परन्तु कबीर ने घर–परिवार के साथ रहते हुए आजीविका के लिये निर्धारित जुलाहे का काम करते हुए सन्तत्व की ऊँची–से–ऊँची उपलब्धि हासिल की और एक बहुत बड़े सन्त के रूप में प्रतिष्ठा पायी। इस तरह से कितने ही ऐसे काम हैं जो उन्होंने अपने जीवन में किये, जिनसे उनके क्रान्तिकारी व्यक्तित्त्व का परिचय मिलता है। लीक पर चलना उन्हें कहीं मंजूर नहीं था। नयी राह खोलना उनका ध्येय था और उन्होंने वह खोलकर दिखायी।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कबीर एक क्रान्तिकारी व्यक्तित्त्व थे। इसे अगर यों कहा जाय कि वे अपने समय के सबसे क्रान्तिकारी व्यक्तित्त्व थे, तो कुछ गलत न होगा। यथास्थिति उन्हें स्वीकार नहीं थी। परिवर्तन लाना उनका ध्येय था। जो भी उनकी दृष्टि में गलत था, उसकी तीव्र निन्दा करना उनकी स्वाभाविक विशेषता थी। वे सब कुछ बदल पाये, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता; परन्तु उन्होंने प्रयास जबरदस्त किया और कुछ हद उन्हें उसमें कामयाबी भी मिली। उनका उद्देश्य कविता से अधिक समाज बनाना था, उसे बदलना था। कविता को उन्होंने इसके लिये साधन बनाया। डॉ. नगेन्द्र द्वारा सम्पादित 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' में लिखा गया है– "वे जन्म से विद्रोही, प्रकृति से समाज–सुधारक, कारणों से प्रेरित होकर धर्म–सुधारक, प्रगतिशील दार्शनिक और आवश्यकतानुसार कवि थे।" (पृ. 28) बदलाव की इस प्रक्रिया में वे दूसरों की ही आलोचना नहीं करते, आवश्यकता पड़ने पर अपनी भी आलोचना करने से नहीं चूकते। इसलिये डॉ. बच्चन सिंह का उनके बारे में यह कहना ठीक ही जान पड़ता है कि "उनसे बड़ा मूर्ति–भंजक (आइकनोक्लास्ट) इतिहास में दूसरा नहीं हैं। वे दूसरों की ही मूर्तियाँ नहीं तोड़ते, अपनी मूर्ति भी तोड़–फोड़कर गढ़ते हैं।"

3.8 कबीर के दार्शनिक विचार

दर्शन एक जटिल विषय है, किन्तु भक्तिकालीन कवियों की यह विशेषता रही कि उन्होंने दर्शन जैसे कठिन विषय के गूढ़ तत्त्वों को ऐसी सरलता के साथ अपनी कविता के माध्यम से प्रस्तुत किया कि एक सामान्य जन को भी उसे समझना सहज हो गया। यह भक्तिकालीन कविता का ही प्रताप है कि भारत में एक बिना पढ़ा–लिखा व्यक्ति भी ईश्वर , जीव, जगत, माया जैसे तत्त्वों को न सिर्फ समझता है; अपितु समझाने तक की क्षमता रखता है। इस दृष्टि से कबीर का योगदान बहुत बड़ा है। उनकी कविता लोककण्ठ में उतरी, जनजीवन में गयी और उसे बहुत कुछ दे गयी। कबीर ने स्वयं शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया था, परन्तु सत्संग किया था और साधु–सन्तों की संगत से बहुत सा ज्ञान अर्जित किया था जो खण्डन–मण्डन के क्रम में उनके काव्य में अभिव्यक्त हुआ है। वे प्रचलित अर्थों में दार्शनिक नहीं थे, कवि थे और कवि को जितना दार्शनिक होना चाहिए, उतने थे। बल्कि उतने से कुछ अधिक ही थे। कबीर ने अपने आगे के साहित्य और साहित्यकारों को तो बहुत प्रभावित किया ही है, स्वयं भी अपने से पहले के काव्य से काफी प्रभाव ग्रहण किये हैं। इसलिये उनकी दार्शनिक मान्यताओं पर उनके पहले से चली आ रही सिद्धों, नाथों, जैनियों, वैष्णवों एवं सूफियों की मान्यताओं का असर देखने को मिलता है। शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन का भी उन पर भारी प्रभाव है। कबीर ने अपने से पूर्ववर्ती सन्तों और ज्ञानियों की बातों को ज्यों–का–त्यों नहीं स्वीकार कर लिया; उनका सार–तत्त्व ग्रहण किया और फिर अपने अनुसार उसे प्रस्तुत किया। आगे हम कबीर के दार्शनिक विचारों की समीक्षा निम्नलिखित विषयों के अन्तर्गत करेंगे–

3.8.1 ब्रह्म

कबीर भक्त कवि हैं और उनकी भक्ति का आश्रय निर्गुण ब्रह्म है, जिसे वे अनेक नामों से सम्बोधित करते हैं। उन्हें नाम से कोई समस्या नहीं है– 'अपरम्पार का नावँ अनन्त।' उस अपरम्पार परमात्मा को किसी भी नाम से पुकारा जाये, पर उसका अर्थ कबीर की दृष्टि में एक ही है– एकमात्र परमात्मा जो सारी सृष्टि का नियामक है। कबीर शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन से भली–भाँति अवगत और प्रभावित दिखते हैं। 'एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति' के अनुसार उनका ब्रह्म एक ही है, दूसरा नहीं; भले उसके नाम कितने भी हों। आ.. हजारीप्रसाद द्विवेदी कबीर के ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखते हैं– "अनन्त हैं इसके नाम, अपरम्पार है इसका स्वरूप। वही कबीर का भगवान है। वह सम निरंजन है, उसका रूप नहीं, रेख नहीं, वह समुद्र भी नहीं, पर्वत भी नहीं, पानी भी नहीं– समस्त दृश्यमान पदार्थों से विलक्षण परम तत्त्व है।"

शंकाराचार्य के 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' की ही तरह कबीर के अनुसार एकमात्र ब्रह्म ही सत्य है क्योंकि वह हमेशा बना रहता है। संसार की उत्पत्ति उसी से होती है और संसार का लय भी उसी में होता है। वह एकमात्र सत्य है, इसलिये उसका ज्ञान कराने वाले को **सतगुरु** कहा जाता है। इस ब्रह्म का कोई रूप–गुण नहीं, कोई पहचान नहीं– 'जाके मुँह माया नहीं, नाही रूप–अरूप। पुहुप वास से पातरा, ऐसो तत्त अनूप।' फूल की सुगन्ध से भी पतले ऐसे अनुपम तत्त्व परमात्मा से ही एक अंश के रूप में निकलकर जीवात्मा शरीर धारण करती है और अन्ततः मोक्ष प्राप्त कर उसी में समा जाती है। यह सम्बन्ध पानी के बर्फ बनने और फिर बर्फ के पिघलकर पानी बन जाने जैसा है–

'पानी ही ते हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाय।
जो कछु था सोई भया, अब कछु कहा न जाय।।'

इस ब्रह्म को खोजने और पाने के लिये कबीर की दृष्टि में मन्दिर–मस्जिद या अन्य किसी धर्मस्थल में जाने की जरूरत नहीं, घर–बार छोड़कर जंगल में जाकर तपस्या करने की भी आवश्यकता नहीं। यह सर्वत्र मौजूद है, सबके भीतर उपस्थित है। बस अपने भीतर झाँककर देखने की जरूरत है– 'तेरा साईं तुज्झ में जाग सकै तो जाग।' इसको जो खोजने को निकलते हैं, उन्हें मिल ही जाता है– 'जिन ढूँढ़ा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठि।' परन्तु इसे पाना इतना आसान भी नहीं। कबीर कहते हैं कि परमात्मा को प्रेम से पाया जा सकता है, पर यह प्रेम करना और पाना सहज नहीं। इसके लिये आत्मबलिदान की आवश्यकता होती है, अपना सिर उतारकर हाथ में रख लेना पड़ता है–

'कबिरा यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारै हाथ करि, सो पैठे घर माहिं।।'

3.8.2 जीव

जीव का अर्थ है– प्राणी। परन्तु, सम्पूर्ण प्राणी–जगत में एक मात्र मनुष्य ही ऐसा प्राणी है जो विवेकशील होने के नाते भक्ति करके मोक्ष का अधिकारी बनता है। इसलिये सन्तों के यहाँ जीव का अर्थ अधिकतर मनुष्यों से सम्बन्ध रखता है। भक्तों के अनुसार जीवों की चौरासी लाख योनियां हैं, जिनमें चींटी से लेकर मनुष्य, हाथी, घोड़े, मच्छर, खटमल, कीड़े–मकोड़े, पशु–पक्षी तक सभी आते हैं। इन चौरासी लाख योनियों में भटकने के बाद एक बार मनुष्य का जन्म मिलता है। इस तरह यह मानव–जीवन बहुमूल्य है। यही एकमात्र वह जीवन है जिसके द्वारा भक्ति करके मोक्ष की प्राप्ति कर परमात्मा में समाहित हुआ जा सकता है।

जीव का सच्चा सम्बन्ध परमात्मा यानि ब्रह्म से है, क्योंकि उसी से उसकी उत्पत्ति हुई है और उसी में उसको अन्ततः मिल जाना है। परन्तु माया के प्रभाव में पड़कर जीव अपने इस सच्चे सम्बन्ध को भूल जाता है और संसार के आकर्षणों में उलझकर अपने जीवन को नष्ट कर लेता है। कबीर इस दर्शन को अपनी कविताओं के माध्यम से बार–बार और बहुत अच्छे ढँग से समझाते हैं। वे कहते हैं–'काहे री नलिनी तू कुम्हलानी। तेरे ही नाल सरोवर पानी।'

जब तक जीवात्मा को मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती, तब तक उसे बार–बार संसार में अनेक रूपों में जन्म लेना पड़ता है। कबीर इसको रूपक के माध्यम से बाजार में आकर व्यापार करना कहते हैं और स्वयं के बारे में उद्घोष करते हैं–

'दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणा, बहुरि न आवौं हट्ट।।'

अपने सुन्दर और सुपुष्ट शरीर पर व्यक्ति बड़ा गर्व करता है, पर कबीर समझाते हैं कि यह गर्व करना बेकार है, क्योंकि एक दिन इस शरीर को बूढ़ा भी होना होता है और मरना भी पड़ता है, तब कोई इसे संसार में पल भर के लिये भी रखना नहीं चाहता–

'झूठे तन को का गरबाबे। मरहि तौ पल भर रहनि न पावै।'

इस शरीर के भीतर ही ब्रह्म का निवास है, परन्तु मनुष्य उसको ढूँढ़ने के लिये इधर–उधर कस्तूरी मृग की तरह भटकता है, अपने भीतर नहीं देखता–

'कस्तूरी कुण्डलि बसै, मृग ढूँढ़े बन माहिं।
ऐसे घट–घट राम है दुनिया देखै नाहिं।।'

कबीर का मानना है कि जीवात्मा का परमात्मा से विमुख होने का कारण अज्ञान है। जैसे ही कोई सतगुरु मिलकर उसे वास्तविकता का बोध करा देता है, जीवात्मा परमात्मा की

ओर उन्मुख हो जाती है। परन्तु, ऐसा विरले लोगों के साथ ही हो पाता है, अन्यथा तो माया के चक्कर में पड़कर अधिकतर लोग अपना जीवन नष्ट ही कर लेते हैं–

"माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवै पड़न्त।
कहैं कबीर गुरु ज्ञानतें एक आध उबरन्त।।"

कबीर की दृष्टि में चूँकि परमात्मा सभी शरीरों के भीतर जीवात्मा के रूप में मौजूद है, इसलिये आपस में किसी तरह का भेद–भाव व्यर्थ है।

3.8.3 जगत

जगत का अर्थ है संसार, दुनिया; जहाँ प्राणी निवास करते हैं। एक लौकिक जगत है, जहाँ जीव रहते हैं और दूसरा पारलौकिक जगत; जहाँ ब्रह्म का निवास है। लौकिक जगत ब्रह्म के अधीन है क्योंकि इसका अस्तित्त्व उसी परमात्मा की इच्छा पर निर्भर है। इसलिये ब्रह्मज्ञानी इस जगत को सच नहीं मानते, क्योंकि यहाँ की हर चीज क्षरणशील है, मरणशील है। इसलिये कबीर कहते हैं– 'का माँगू कछु थिर न रहाई। देखत नैन चला सब जाई।' आँखों के देखते–ही–देखते जब सब कुछ चला जा रहा है तो ऐसे में इस संसार में क्या माँगूँ?

जीव का वास्तविक सम्बन्ध ब्रह्म से है, पर वह जगत में आकर ब्रह्म से अपने इस सच्चे सम्बन्ध को भूल जाता है और जगत के झूठे आर्कषण में खो जाता है। यह जगत बड़ा मायामय है। इसकी माया के जाल में फँसकर प्राणी अपने जीवन को नष्ट कर लेता है और अपने जन्म को निरर्थक बना देता है। संसार की प्रत्येक वस्तु क्षणभंगुर और अस्थाई है, फिर भी मनुष्य इसी की कामना करता है। कबीर संसार को सेमल के फूल की भाँति क्षणिक बताते हुए इसके मोह से बचने की सलाह देते हैं–

कबिरा यह संसार है, जैसे सेंवल फूल।
दस दिन के व्यवहार को, झूठे रंग न भूल।।

कबीर ने अपनी एक साखी में संसार को बाजार कहा है। जैसे व्यक्ति खरीददारी के लिये बार–बार बाजार जाता–आता है, ऐसे ही जब तक संसार में आसक्ति रहती है, व्यक्ति कष्टपूर्ण जन्म–मरण के चक्कर में पड़ा ही रहता है। लेकिन जब उसे ज्ञान हो जाता है तब उसके मन से इस संसार का मोह निकल जाता है और वह फिर मृत्यु से भी भयभीत होना छोड़ देता है। तब उसकी भावना कबीर के शब्दों में इस तरह की हो जाती है–

जा मरने ते जग डरै, सो मेरे आनन्द।
कब मरिहौं, कब भेंटिहौं पूरण परमानन्द।।

कबीर के दार्शनिक चिन्तन में यद्यपि जगत् को कम महत्त्व मिला है, तथापि वे उसके प्रति एकदम उदासीन नहीं है, इसलिये वे जगत को भी अच्छा बनाने वाली भी बहुत सी बातें कहते हैं, क्योंकि आखिर वही साधना–भूमि है, जहाँ जीव परमात्मा से वियुक्त होकर आता है और फिर उससे संयुक्त होने के लिये साधना करता है।

3.8.4 माया

'मा' माने नहीं और **'या'** माने जो। इसका मतलब हुआ– 'जो है ही नहीं'। माया की यही विशेषता है कि वह कुछ नहीं होते हुए भी सब कुछ है और सब कुछ होते हुए भी कुछ नहीं है। भक्त कवियों के यहाँ इस 'माया' की बड़ी चर्चा है। उन्होंने कई तरह के रूपकों के द्वारा इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। कबीरदास के यहाँ भी इस माया की बड़ी महिमा है। वे माया को महाठगिनी बताते हैं जिसने सभी को ठगा है। मनुष्यों की तो बात ही क्या,

देवी–देवता तक इसके फन्दे से नहीं बच पाये हैं। कबीर कहते हैं कि यह माया दीपक के समान है और मनुष्य दीपक की लौ में बार–बार पड़कर अपनी जान दे देने वाले पतंगे जैसा है। गुरू के ज्ञान से एकाध ही कोई बच पाता है, अन्यथा यह माया सबको नष्ट कर देती है–

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवै पड़न्त।
कह कबीर गुरु ज्ञान तें, एक आध उबरन्त ।।

अब प्रश्न यह है कि यह माया है क्या और यह कैसे मनुष्य के जीवन को नष्ट कर देती है? सत्य नाम परमात्मा है। उसी परमात्मा से एक अंश निकलकर जीवात्मा के रूप में कोई शरीर धारण करता है। जीवात्मा परमात्मा से अलग होना नहीं चाहती और उससे अलग होते समय कष्ट का अनुभव करती है। लेकिन संसार में आकर शरीर धारण कर लेने पर सांसारिकता में, सासारिक आकर्षणों–प्रलोभनों में ऐसी उलझ जाती है कि अपने वास्तविक स्वरूप को भुला देती है। इस तरह से उसका परमात्मा से सम्बन्ध विच्छिन्न हो जाता है और वह इस संसार को, सांसारिक सुख–दुख को ही सब कुछ समझने लगती है। यह सांसारिक सुख–दुख, आकर्षण–प्रलोभन ही माया हैं, जो हमें लगते तो वास्तविक हैं, पर हैं नहीं, क्योंकि संसार के हर सुख को हमें एक–न–एक दिन छोड़कर जाना ही होता है। तो यही जीवात्मा के परमात्मा ब्रह्म से वियुक्त होकर संसार में आने पर उसी में उलझा देने वाली और ब्रह्म से दूरी बना देने वाली शक्ति माया है जिसे असल में ईश्वर की ही शक्ति भी कहा गया है। इसलिये कबीर इसे 'रमैया की दुलहिन' कहते हैं जिसने साधारण जीव जगत् की तो बात ही क्या, ब्रह्मा, विष्णु, नारद इत्यादि तक को लूट लिया है–

रमैया की दुलहिन लूटो बजार।
ब्रह्मा लूटे, विष्णु लूटे नारदहू के जा परी पिछार।

कबीर ने इस माया को लेकर कितनी ही उक्तियाँ कितने ही तरीकों से की हैं। वे कहते हैं कि इस माया को छोड़ना या इससे बचना आसान नहीं, क्योंकि यह बार–बार अपने फन्दे में फँसा लेती है– 'माया तजूँ तजी नहि जाय। फिर फिर माया मोहि लपटाय।' इसका कारण यह है कि इस माया के अनेक रूप हैं और सर्वत्र इसकी व्याप्ति है। यह माया आदर, मान, प्रतिष्ठा, जप, तप, योग, माता, पिता, स्त्री, पुत्र आदि अनेकानेक रूपों में तो हमें घेरे ही हुए है; जल, थल, आकाश सहित कोई भी स्थान इससे मुक्त नहीं है। इसके फन्दे से कबीर जैसे कुछ वही ब्रह्मज्ञानी बच पाते हैं जो गुरू के ज्ञान को पाकर राम को अपने जीवन का आधार बना लेते हैं–

'माया मारि करै ब्यौहार, कहै कबीर मेरे राम अधार।'

3.8.5 मोक्ष

मोक्ष का अर्थ है 'मुक्ति'। मुक्ति किससे? इस संसार से। जीवन–मरण के चक्र से। परमात्मा से अलग होकर आत्मा जब उसको भूल जाती है तो फिर बार–बार उसको इस धरती पर अनेक रूपों में जन्म लेना पड़ता है और फिर मृत्यु के कष्ट को सहन करना पड़ता है। जब फिर उसे सत्गुरु–कृपा से ब्रह्म का बोध होता है, तब भक्ति के द्वारा वह उस ब्रह्म या परमात्मा से जुड़ जाती है और अन्ततः शरीर छूट जाने पर उसमें पूर्ववत् लय हो जाती है। कबीर ने काव्यात्मक भाषा में अनेक तरह से इस तथ्य को स्पष्ट किया है। वे कहते हैं–

जल में कुम्भ कुम्भ में जल है बाहर भीतर पानी।
फूटा कुम्भ जल जलहिं समाना यह तथ कथ्यो ज्ञानी।।

जैसे पानी में पड़े हुए घड़े में पानी भर जाने से उसके बाहर–भीतर पानी ही पानी होता है, परन्तु उस कुम्भ में भरे जल की अपनी एक अलग पहचान होती है। लेकिन जब कुम्भ फूट जाता है तो उसमें भरे पानी के उस सरोवर या कुएँ के पानी में मिल जाने से अपनी अलग पहचान समाप्त हो जाती है, इसी तरह से शरीर के नष्ट हो जाने पर मोक्ष की दशा में जीवात्मा पुनः परमात्मा में विलीन हो जाती है।

एक अन्य साखी में वे जीव के ब्रह्म में लय हो जाने को समुद्र में बूँद के समा जाने के द्रष्टान्त से स्पष्ट करते हैं–

हेरत हेरत हे सखी, रहा कबीर हिराइ।
बूँद समानी समद में, सो कत हेरी जाइ।।'

इस तरह से देखा जाये तो यह मोक्ष या मुक्ति जीव की सबसे बड़ी उपलब्धि है और सन्तों–भक्तों के जीवन का चरम लक्ष्य है। यह स्वर्ग–नरक, जन्नत–दोजख आदि से बहुत ऊपर की चीज है। मोक्ष प्राप्त करके आत्मा की अपनी सत्ता मिट जाती है और वह परमात्मा बन जाती है, पुनः परमात्मा–स्वरूप हो जाती है। मगर मोक्ष की यह साधना सरल नहीं होती। कबीर तो इसे जीवन–मुक्त साधना भी कहते हैं जिसमें जीवन रहते ही साधक या सन्त का आत्म–साक्षात्कार के द्वारा उस हृदय के भीतर बसे ब्रह्म से सम्बन्ध जुड़ जाता है और फिर उसका मृत्यु का भय समाप्त हो जाता है–

'हम न मरैं मरिहै संसारा। हमकौ मिला जियावन हारा।'

इस प्रकार हम देखें तो कबीर का दर्शन भारतीय दार्शनिक मान्यताओं के ही अनुरूप है। हाँ, उन्होंने इसे सरलीकृत अवश्य किया है, जिससे यह सामान्य जन के लिये भी सुबोध और सुगम हो गया है। साथ ही कबीर के इस दर्शन की बड़ी बात यह है कि वह मात्र शास्त्रों में लिखी–पढ़ी गयी या दूसरों से सुनी–सुनायी बातों पर आधारित नहीं है, बल्कि कबीर द्वारा स्वयं अनुभव की गयी बातों पर आधारित है। इसलिये अधिक व्यवहारिक भी बन पड़ा है।

3.9 कबीर की भाषा

कबीर ने किस भाषा में काव्य–रचना की है, यह विद्वानों के बीच बड़ी चर्चा का विषय रहा है और वे एक मत से किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाये हैं। जैसे सूर की पहचान ब्रजभाषा के कवि के रूप में है, जायसी ने अवधी की अपने काव्य से बड़ी पहचान दी और तुलसीदास ने ब्रज और अवधी दोनों भाषाओं में उत्कृष्ट काव्य का सृजन कर उनको गौरव प्रदान किया, ऐसे ही किसी एक भाषा के साथ कबीर का नाम जोड़ने में समस्या आती है। वास्तव में कबीर की काव्य–भाषा का स्वरूप इतना मिला–जुला है और इतना वैविध्यपरक है कि उसके कारण उसकी किसी एक भाषा के रूप में सही पहचान न कर पाने के कारण उसे 'पंचमेल खिचड़ी' और 'सधुक्कड़ी' जैसे नाम तक दिये गये हैं। ऐसे कबीर की भाषा को कोई नाम न दिया गया हो, ऐसी बात भी नहीं है। अनेक विद्वानों ने उनकी भाषा की अनेक रूपों में पहचान की है, पर उनमें सर्वसम्मति नहीं बन पायी है। कबीर के 'बीजक' के टीकाकार विचारदास जी ने कबीर की भाषा को 'ठेठ प्राचीन पूर्वी' कहा है तो सुनीति कुमार चटर्जी कबीर की रचनाओं की भाषा मुख्यतः ब्रजभाषा मानते हैं, उदयनारायण तिवारी ने उनके कुछ पुराने पदों को भोजपुरी का माना है तो डॉ. माता प्रसाद उनकी भाषा को मुख्यतः खड़ी बोली मानते हैं। आ. विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने कबीर की साखियों में खड़ी बोली, सबदों में ब्रजी और रमैनियों में अवधी या पूर्वी की प्रधानता स्वीकार की है। डॉ. श्यामसुन्दर दास ने कबीर की

भाषा को 'पंचमेल खिचड़ी' कहा तो आ. रामचन्द्र शुक्ल ने 'सधुक्कड़ी' बताया। डॉ. गोविद त्रिगुणायत ने लिखा है कि "कबीर ने किसी एक भाषा का प्रयोग नहीं किया। उनकी बानियों में हिन्दी, उर्दू, फारसी आदि कई भाषाओं का सम्मिश्रण तो मिलता ही है, साथ ही साथ खड़ी, अवधी, भोजपुरिया, पंजाबी, मारवाड़ी आदि उपभाषाओं का भी प्रचुर प्रयोग मिलता है।"

सामान्यतः कबीर की भाषा की विशेषता को हम निम्नलिखित बिन्दुओं के अन्तर्गत देख सकते हैं–

3.9.1 शब्द–प्रयोग की दृष्टि से

कबीर की भाषा के स्वरूप को लेकर विवाद ही इस कारण रहा है कि उसमें मुख्य रूप से ब्रज, अवधी, खड़ी बोली, पंजाबी, राजस्थानी और भोजपुरी आदि के शब्दों का सम्मिश्रण है। ऐसे उनकी भाषा में तद्भव और देशज शब्दों का ही अधिक प्रोयोग हुआ है, पर तत्सम शब्दों से भी उन्हें एकदम परहेज नहीं है और नीर, उदार, गगन, मण्डल, अमृत, मुनि जैसे अनेकानेक तत्सम शब्द भी उनके काव्य में स्थान–स्थान पर देखने को मिल जाते हैं। डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना लिखते हैं– "...उसमें कही 'आंखड़ियाँ', 'जीभड़ियाँ', 'कसाइयाँ',' दुखड़ियाँ', 'रतड़ियाँ', आदि पंजाबी बोली के शब्द विद्यमान हैं तो कही' 'विसूरणाँ', 'रोवण', 'सजणाँ', 'जाँणि', 'छाँणि', 'संताणी', 'आपण', 'रैणा', आदि राजस्थानी बोली के शब्द भी अत्यधिक मात्रा में अपनाये गये हैं। ऐसे ही कहीं उसमें 'लेट्यौ', 'घट्यौ', 'पकर्यौ', 'चल्यौ', आदि ब्रजबोली के रूप मिलते हैं तो कहीं 'जाऊँगा', 'लागा', 'भागा', 'मिलाऊँगा', 'चित लाऊँगा', 'मूल मिलाऊँगा', 'धागा टूटा', आदि शुद्ध खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। ऐसे ही कहीं 'मोर', 'तोर' 'मंदला बजावा', 'दुख पावा', आदि अवधी के शब्दों का रूप विद्यमान है, तो कहीं 'सूतल', 'लूटल', 'पावल', 'राखल', आदि भोजपुरी के शब्द भी मिल जाते हैं। इतना ही नहीं, पीर मुरीद, काजी, दरवेश, मुल्ला, कुरान, खुदाई, खालिक, दरोगा, हाजिराँ, अकलि, अलह, पाक, नापाक आदि अरबी–फारसी के शब्द भी कबीर ने अत्यधिक मात्रा में अपनाये हैं। इस प्रकार कबीर की भाषा में बंगला, बिहारी, मैथिली, भोजपुरी, अवधी, ब्रज, खड़ी, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, सिन्धी, लहँदा, अरबी, फारसी आदि सभी बोलियों को चढ़ाकर पकाया हुआ 'सधुक्कड़ अन्नकूट', विद्यमान है, यह सर्वतंत्र स्वतंत्र है, उसमें लिंग, वचन, कारक आदि किसी प्रकार का बन्धन नहीं है और न उसके शब्दों को छील–छालकर या किसी एक भाषा के साँचे में ढालकर ही सुन्दर और सुडौल बनाया गया है।" (हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि; पृ. 104)

कबीर की भाषा असल में भाव, प्रसंग और अवसर के अनुकूल बदलती है। जैसे भाव उन्हें व्यक्त करने होते हैं, जैसा प्रसंग होता है और जैसे लोगों से या जैसे लोगों के बीच वे बात करते हैं, वैसा ही स्वरूप उनकी भाषा का निर्मित होता चला जाता है। कबीर सन्त थे। खूब घूमे थे। अतः कुछ तो स्वयं उनके द्वारा ही देश–देश के शब्दों का प्रयोग अपनी भाषा में उस क्षेत्र के लोगों तक अपनी बात सही रूप में पहुँचाने के लिये हुआ है और उससे भी बड़ी बात रही उनकी रचनाओं का प्रसार। उनके शिष्यों द्वारा उनकी रचनाएं दूर–दूर तक गयीं, वहां लोकप्रिय हुईं। भिन्न भाषा–भाषी क्षेत्रों तक पहुँचकर कबीर की कविता वहाँ की भाषाओं में ढल गयी, इसलिये उसका स्वरूप ऐसा भिन्न–भिन्न हो गया कि एक ही कविता के अनेक रूप प्रचलित हो गये। उदाहरण के लिये देख सकते हैं कि कैसे एक ही पद तीन अलग–अलग संग्रहो में अलग–अलग ढँग से सम्मिलित हुआ है–

– 'फिरहु का फूल फूले।

जब दस मास अऊँध मुख होते, सो दिन काहे भूले।' **—कबीर—बीजक।**

– 'काहे भइया फिरतै फुलिया फुलिया।
जब दस मास उरध मुखि रहता सो दिन कैसे भूलिया।' **—आदिग्रन्थ।**

– 'फिरत कत फूल्यौ फूल्यौ
जब दस मास उरध मुखि होते सो दिन काहे भूल्यो। ' **—कबीर ग्रन्थावली।**

असल में कबीर का काव्य लोक के लिये रचा गया है, इसलिये वह लोक—भाषा में रचा गया है। यही कारण है कि उसको विद्वानों से भी अधिक लोक समझता है और उसी ने उसे आत्मसात किया है। उनकी भाषा में प्रयुक्त प्रतीक, मुहावरे, कहावतें इत्यादि भाषिक अवयव लोक—प्रवृत्ति के अनुकूल हैं, इसलिये सहज लोकग्राह्य हैं। इस लोक—प्रवृत्ति की अनुरूपता के कारण ही उनकी भाषा का स्वरूप वैविध्यमय हो जाता है। उदाहरण के लिये देख सकते हैं कि 'पारब्रह्म के तेज का कैसा है उन्वान। कहिबे कूँ शोभा नही देख्या ही परवान।' जैसी तत्सम बहुला भाषा में अपने भाव प्रकट करने वाले कबीर की भाषा मुसलमानों को सम्बोधित करते हुए कैसे अरबी—फारसी के शब्दों से भर जाती है—

'अल्लाह अबलि दीन का साहिब जावे नहिं फरमाया।
मुरसिद पीर तुम्हारे हैं को कहाँ कहाँ थै आया ।।'

3.9.2 शब्द शक्तियां

शब्द के अर्थ का ज्ञान कराने वाली क्षमता शब्द—शक्ति कहलाती है। ये तीन प्रकार की मानी गयी हैं— अभिधा, लक्षणा और व्यंजना। कबीर के काव्य में इन तीनों शब्द—शक्तियों का बड़ा सुन्दर समन्वय देखने को मिलता है। यहाँ तीनों प्रकार की शब्द—शक्तियों से सम्बन्धित उनके काव्य से एक—एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

– साँच बराबर तप नहीं झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदै साँच है ताके हिरदै आप। —अभिधा

– काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी।
तेरे ही नाल सरोवर पानी।.... —लक्षणा

– माली आवत देखकर, कलियन करी पुकारि।
फूले फूले चुनि लिये, काल्हि हमारी बारि। —व्यंजना

3.9.3 अलंकार—विधान

अलंकार कविता का सौन्दर्य बढ़ाने का काम करते हैं। कविता में ये चाहे—अनचाहे या जाने—अनजाने आते ही हैं, परन्तु इनके स्वाभाविक प्रयोग से जहाँ कविता का सौन्दर्य खिल उठता है, वहीं सायास ढँग से किया गया इनका अतिशय प्रयोग कविता पर बोझ भी बन जाता है। कबीर ने काव्यशास्त्र का विधिवत अध्ययन नहीं किया था, न उन्होंने कवि के रूप में प्रसिद्धि पाने के लिये कविता लिखी। इसलिये उनकी कविता अलंकारों से बोझिल नहीं हुई है, बल्कि अलंकारों का साथ पाकर प्रभावशाली हो उठी है। जब वे भावों के प्रवाह में बहकर अपनी बात कहते हैं तो वह कविता के रूप में सामने आती है और एक—से—एक सुन्दर अलंकार सहज ढँग से उनकी कविता में जगह बनाकर उसमें चार चाँद लगा जाते हैं। अनुप्रास, यमक, श्लेष, पुनरुक्तिप्रकाश, वक्रोक्ति, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, रूपकातिशयोक्ति,

विभावना, विशेषोक्ति, अन्योक्ति, द्रष्टान्त आदि शब्दालंकार से लेकर अर्थालंकार तक कौन सा ऐसा प्रमुख अलंकार है जिसने कबीर की कविता में स्थान न पाया हो और उनके काव्य–सौन्दर्य को न निखारा हो। यहाँ कबीर–काव्य में सम्प्राप्त कुछ अलंकार उदाहरणस्वरूप उल्लिखित हैं–

– पानी केरा बुदबुदा अस मानस की जात।
देखत ही छिप जायेगा ज्यों तारा परभात।। **–उपमा, उदाहरण**

– गगन घटा घहरानी साधो गगन घटा घहरानी। **–पुनरुक्ति प्रकाश**

– कबिरा सोई पीर है, जो जानै पर पीर। **–यमक**

– काहे री नलिनी तू कुम्हिलानी।
तेरे ही नाल सरोवर पानी। **–रूपकातिशयोक्ति**

– सन्तौ भाई आई ज्ञान की आंधी रे। **–सांगरूपक।**

3.9.5 उलटबासियां

कबीर की भाषा की एक बड़ी विशेषता उनके द्वारा रचित उलटबांसियों के रूप में देखने को मिलती है। सिद्धों द्वारा प्रयुक्त 'संधाभाषा' कबीर के यहां जैसे उलटबांसी बनकर आयी है। उलटबासी का अर्थ है– सीधी–सरल बात को चमत्कारिक ढँग से इस तरह से उल्टा करके कहना कि सामान्यतः उसका अर्थ समझ में न आये और अर्थ खुल जाने के पश्चात् वह बात सहजतः हृदयंगम हो उठे। डॉ. बच्चन सिंह ने अपने 'हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास' ग्रन्थ में इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है– "जो कुछ लोक में विश्वसनीय तरीके से कहा जाता है उसे उलटकर कहना उलटबांसी है। लोक में कहा जाता है– 'सिंह ने गाय को मार डाला।' कबीर कहेंगे कि गाय ने सिंह को मार डाला। कबीर कहते हैं– 'गाइ नाहर खाइयो हरिन खायो चीता', 'मूस तो मंजार खायौ स्यारि खायौ स्वानां', 'संतो , अचरज एक भौ भारी, पुत्र धरल महतारी' इत्यादि। उलटबाँसी 'अकथ कथा है,' अचरज और विसंगतियों से भरी हुई।" (पृ. 90–91)

3.9.5 वर्णन–शैलियां

कबीर ने अपने काव्य में वर्णन की अनेक शैलियों को अपनाया है। कहीं वे भावात्मक शैली में अपनी भावनाओं को अभिव्यक्ति देते हुए नजर आते हैं तो कहीं खण्डन–मण्डन की शैली अपनाकर दूसरों के विचारों का खण्डन करते हुए अपने मत का प्रतिपादन करते दिखते हैं। उपदेशात्मक शैली का प्रयोग उन्होंने खूब किया है तो सम्बोधन शैली भी उनके काव्य में बहुत अवसरों पर अपनायी गयी है। प्रतीकात्मक शैली, विचारात्मक शैली आदि का प्रयोग भी कबीर–काव्य में स्थान–स्थान पर देखने को मिलता है। प्रतीकात्मक शैली के अन्तर्गत कबीर ने अनेक तरह के प्रतीकों का प्रयोग अपने भावों–विचारों को स्पष्ट करने के लिये किया है। उनकी भक्ति के आधार 'राम' ही निर्गुण ब्रह्म के प्रतीक हैं जिनके लिये उन्होंने माधव, हरि, गोविन्द, साईं आदि प्रतीकात्मक सम्बोधन दिये हैं। यौगिक से लेकर श्रमिक जीवन और प्रकृति तक से– विभिन्न क्षेत्रों से विभिन्न प्रकार के प्रतीकों को कबीर ने अपने काव्य में अपनाया है। डॉ. बच्चन सिंह लिखते हैं– ''...एक ही प्रतीक सन्दर्भों के बदल जाने से अपना अर्थ भी बदल देते है। दीपक एक स्थान पर माया का प्रतीक है, दूसरे स्थान पर ज्ञान का। चातक के प्रतीकत्व को उन्होंने उलट दिया है। कबीर के यहाँ वह मोहभंग के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है।" (हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ. 90)

कबीर–काव्य में प्रयुक्त विभिन्न शैलियों में से कुछेक को यहाँ उदाहरण के रूप में देखा जा सकता है–

– निन्दक नियरे राखिए आंगन कुटी छवाय।
बिन पानी साबुन बिना निर्मल करै सुभाय।। **–उपदेशात्मक शैली**

– बहुत दिनन की जोवती बाट तुम्हारी राम।
मन तरसै तुव मिलन कौ मन नाहीं विसराम।। **–भावात्मक शैली**

– साधो, सारा जग बौराना। **–सम्बोधन शैली**

– लाली मेरे लाल की जित देखूँ तित लाल।
लाली देखन मैं गयी मैं भी हो गयी लाल।। **–प्रतीकात्मक शैली**

– पंडित बाद वदन्ते झूठा।
राम कहे दुनिया गति पावै खांड़ कहे मुख मीठा।। **–खण्डन–मण्डन शैली**

अन्ततः कहा जा सकता है कि कबीर की भाषा के स्वरूप के बारे में भले विद्वान एकमत न हों और भले वह शास्त्रीयता की कसौटी पर उतनी खरी न उतरे, पर उसकी सामर्थ्य बेमिसाल है और इस पर किसी को सन्देह नहीं है। उनकी भाषा की सम्प्रेषण–क्षमता अद्‌भुत है। इसीलिये आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी को उनके बारे कहना पड़ा कि "भाषा पर कबीर का जबरदस्त अधिकार था। वे वाणी के डिक्टेटर थे। जिस बात को उन्होंने जिस रूप में प्रकट करना चाहा है उसे उसी रूप में भाषा से कहलवा लिया– बन गया है तो सीधे–सीधे, नहीं तो दरेरा देकर । भाषा कुछ कबीर के सामने लाचार–सी नजर आती है। उसमें मानो ऐसी हिम्मत ही नहीं है कि इस लापरवाह फक्कड़ की किसी फरमाइश को नाहीं कर सके। और अकह कहानी को रूप देकर मनोग्राही बना देने की तो जैसी ताकत कबीर की भाषा में है वैसी बहुत कम लेखकों में पायी जाती है।...." (कबीर, पृ. 170) दूसरी ओर डॉ. बच्चन सिंह ने कबीर को प्रेमचन्द से जोड़ते हुए लिखा है– ''...उनकी भाषा अनगढ़ है पर यथार्थ से जुड़ी होने के कारण अभिव्यक्ति क्षमता में बेमिसाल है। भाषा की यह स्वाभाविकता आगे चलकर प्रेमचन्द में ही मिलती है।" (हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ. 91)

अपना ज्ञान परखिए :

1. ज्ञानाश्रयी शाखा का दूसरा नाम क्या है?
2. भक्तिकालीन हिंदी साहित्य को ईसाइयत की देन हिंदी साहित्य के किस इतिहासकार ने बताया है?
3. आलवार संत भारत के किस भाग में हुए?
4. नामदेव को संत–काव्य–परंपरा का प्रवर्तक मानने पर जोर देने वाले विद्वान का नाम क्या है?
5. रामावत संप्रदाय के प्रचलनकर्ता आचार्य कौन थे?
6. कबीर ने अपनी भक्ति को किस प्रकार की बताया है?
7. नारदीया भक्ति का मुख्य आधार क्या है?
8. 'श्रद्धा और प्रेम के योग का नाम भक्ति है'– यह कथन किनका है?
9. वैधी और रागानुगा में से कबीर की भक्ति किस प्रकार की है?
10. प्रपत्तिमार्गी भक्ति का मूल भाव क्या है?

11. बीजक के अतिरिक्त किसी अन्य प्राचीन ग्रंथ का नाम बताइए जिसमें कबीर की रचनाएं संकलित हैं?
12. 'हिंदी नवरत्न' किनका ग्रंथ है?
13. 'संत कबीर' पुस्तक के लेखक कौन हैं?
14. 'कबीर की कविता राम भावना, काम भावना और समाज भावना को एक साथ धारण करती है'– यह कथन किसका है?
15. कबीर को वाणी के डिक्टेटर बताने वाले विद्वान का नाम लिखिए?
16. भक्ति के अतिरिक्त संत बनने की एक बड़ी कसौटी संत कवियों ने क्या मानी है?
17. कबीर के काव्य की भाव–पक्ष संबंधी किन्हीं दो विशेषताओं का उल्लेख कीजिए?
18. कबीर को सबसे आधुनिक और सबसे अधिक प्रासंगिक बताने वाले विद्वान का नाम क्या है?
19. कबीर ने अपनी मृत्यु के लिए काशी के बजाय कौन सा स्थान चुना?
20. कबीर ने महाठगिनी किसे कहा है?
21. कबीर की भाषा को ब्रजभाषा बताने वाले विद्वान का नाम क्या है?
22. 'कबीरा सोई पीर है जो जाने पर पीर' में कौन सा अलंकार है?
23. कबीर काव्य से संबोधन–शैली का एक उदाहरण दीजिए?

3.10 पाठ्यांश और व्याख्या

मोको कहाँ ढूँढ़े बंदे , मैं तो तेरे पास में।
ना मैं देवल न मैं मस्जिद, ना कवि कैलास में।
ना तो कौने किया–कर्म में नहीं योग बैराग में।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहौं, पल भर की तालास में।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, सब स्वाँसों की स्वाँस में।

कठिन शब्दार्थ : मोको–मुझको। देवल–मन्दिर। काबे– सऊदी अरब में मक्का स्थित मुसलमानों का एक प्रसिद्ध तीर्थ। कैलास–हिमालय पर स्थित हिन्दुओं का प्रसिद्ध तीर्थस्थल। कौने–किसी प्रकार के। बैराग– वैराग्य। तालास–तलाश, खोज। तुरतै–तुरन्त। मिलिहौं–मिलूंगा।

सन्दर्भः

आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी की पुस्तक 'कबीर' से उद्धृत प्रस्तुत पद भक्तिकाल की निर्गुण काव्य धारा के अन्तर्गत आने वाली ज्ञानाश्रयी शाखा के सर्वप्रमुख कवि सन्त कबीरदास द्वारा रचित है।

मनुष्य ईश्वर की खोज की खोज में जहाँ–तहाँ भटकता है और अनेक प्रकार के विधि–विधानों, उपायों में उलझा रहता है, जबकि ईश्वर तो उसके बहुत निकट है– उसके भीतर ही। इस पद में कबीर ईश्वर द्वारा मनुष्य को यही सन्देशा दिलवा रहे हैं।

व्याख्या :

परमात्मा कहता है कि हे मनुष्य, मुझको तू कहाँ ढूँढ़ रहा है; मैं तो तेरे पास में ही हूँ! तू मुझे मन्दिर–मस्जिद जैसे धर्मस्थलों में खोजता है और अनेक प्रकार के अनुष्ठान करके पाना चाहता है, पर यह समझ ले कि न तो मैं किसी मन्दिर में हूँ और न किसी मस्जिद में। यहाँ

तक कि मुसलमान मुझको पाने के लिये काबा जाते हैं और हिन्दू कैलास मानसरोवर की यात्रा करते हैं, परन्तु मैं तो वहाँ भी नहीं हूँ। मुझे पाने के लिये तेरे द्वारा किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के क्रिया–कर्म तथा योग एवं वैराग्य सम्बन्धी साधनाएँ भी व्यर्थ हैं। कबीर कहते हैं कि हे भाई साधुओ सुनो! वह परमात्मा कहता है कि मैं तो प्रत्येक व्यक्ति की श्वासों में समाया हुआ हूँ। इसलिये यदि मुझे कोई सच्चे मन से खोजने वाला हो तो मैं उसे पल भर की तलाश में ही तुरन्त मिल जाऊँगा।

विशेष :

1. कबीर ईश्वर को पाने के लिये समस्त बाह्य प्रयत्नों को निरर्थक मानते हैं। भक्ति के लिये मन की दृढ़ता, सच्चाई और प्रेम ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। ईश्वर कोई बाहर नहीं है, मनुष्य के भीतर ही है। इसलिये वे इस पद में उसे पाने के लिये मन की सच्ची भावना को ही महत्त्व देते नजर आते हैं।
2. रस–शान्त
3. भाषा सरल, सहज है जो खड़ी बोली के अधिक निकट है।
4. छन्द के रूप में 'पद' का प्रयोग है जिसे सन्तों की भाषा में 'सबद' कहा जाता है।
5. भावसाम्य–

   कस्तूरी कुंडलि बसै मृग ढँढ़े बन माहि। ऐसे घट घट राम हैं दुनिया देखै नांहि।

सन्तन जात न पूछो निरगुनियाँ।
साध ब्राह्मन साध छत्तरी , साधै जाती बनियाँ।
साधनमाँ छत्तीस कौम है, टेढ़ी तोर पुछनियाँ।
साधै नाऊ साधै धोबी, साधै जाति है बरियाँ।
साधनमाँ रैदास संत है, सुपच ऋषि सों भंगियाँ।

शब्दार्थ : छत्तरी–क्षत्रिय। कौम–जाति। पुछनियाँ–प्रश्न। नाऊ–नाई। बरियाँ–बारी, माली। साधनमाँ–साधुओं में। दीन–धर्म।

सन्दर्भ : पूर्ववत।

प्रसंग :

भारतीय समाज विभिन्न जातियों में बँटा हुआ है। जातियों में ऊँच–नीच के भेद भी हैं। परन्तु सन्त बन जाने के बाद व्यक्ति जाति से ऊपर उठ जाता है और सभी जातियों के लोग उसका सम्मान करते हैं। फिर भी कुछ लोग इस जाति–ग्रन्थि से मुक्त नहीं हो पाते और सन्तों की भी जाति खोजने में लगे रहते हैं। कबीर का यह पद ऐसे ही लोगों को जबाब है।

व्याख्या :

कबीर कहते हैं कि जो निर्गुण सन्त हैं, उनकी जाति मत पूछो। ऐसे साधुओं में ब्राह्मण भी हैं, क्षत्रिय भी और वैश्य भी। हमारे निर्गुण साधु–समाज में छत्तीसों जातियों के लोग हैं, इसलिये तुम्हारा जाति सम्बन्धी प्रश्न थोड़ा टेढ़ा (कठिन) है। हमारे सन्त–समाज में नाई भी साधु हैं, धोबी भी साधु हैं और माली जाति के लोग भी साधु बने हैं। यहाँ तक कि हम साधुओं में रैदास जैसे सन्त भी हैं और श्वपच ऋषि जैसे भंगी जाति के भी सन्त हुए हैं। जाति तो जाति, हमारे यहाँ आकर धर्म–सम्बन्धी अन्तर तक मिट जाते हैं। हिन्दू–मुसलमान दोनों धर्मों के लोग साधु बने हुए हैं और अब जाति–धर्म सम्बन्धी उनकी पहचान कुछ भी नहीं बची है,

इसलिये उनको इस रूप में नहीं पहचाना जा सकता । अब उनकी पहचान मात्र साधु के रूप में है, किसी धर्म या जाति के रूप में नहीं।

विशेष :

1. निर्गुण सन्तों ने जातिगत विषमता को मिटाने का बड़ा प्रयास किया। 'जाति–पाति पूछे नहिं' कोई। हरि को भजे सो हरि का होई कहकर कबीर ने भक्तिमार्ग में जाति–भेद को नकारा। फिर भी कुछ संकुचित मनोवृत्ति के लोग जो साधु–समाज के भीतर भी रहे होंगे और बाहर भी, वे सन्तों की जातिगत पहचान पूछते होंगे, ऐसा इस पद से संकेत मिलता है।
2. रैदास और श्वपच ऋषि का उल्लेख इसलिये किया गया है, क्योंकि ये दोनों समाज में निम्नतर मानी जाने वाली चमार और भंगी जातियों से सम्बन्ध रखते थे, जिनको ऊँची जातियों के लोग छूना भी पसन्द नहीं करते थे। ऐसी निम्न जातियों में जन्म लेने के बाद भी सन्त के रूप में इन दोनों का बड़ा सम्मान था।
3. श्वपच ऋषि : इनके बारे में मान्यता है कि ये भंगी जाति के थे। इन्हें सुदर्शन भी कहा जाता है। इनसे सम्बन्धित एक कथा प्रचलित है कि महाभारत युद्ध के बाद जब महाराज युधिष्ठर ने युद्ध के पाप से मुक्ति के लिये भारी यज्ञ किया तो दूर–दूर से साधु–सन्त आये, पर श्वपच सुदर्शन नहीं। भगवान कृष्ण ने इस यज्ञ में एक घण्टा बँधवा दिया था और कहा था, जब यह सात बार बजेगा, तभी पाप–मुक्ति समझी जायेगी। सारे ब्राह्मण और साधु भोजन कर चुके, पर घण्टा नहीं बजा। अन्त में भगवान श्रीकृष्ण के कहने पर युधिष्ठर द्वारा श्वपच सुदर्शन को बुलाकर भोजन कराने के बाद ही घण्टा बजा और यज्ञ सफल हुआ। यह कथा जाति से अधिक आचरण और योग्यता की महत्ता को सूचित करती है।
4. भावसाम्य– कबीर ने अन्यत्र भी कहा है–

   जाति न पूछो साधु की, पूछ लीजियौ ज्ञान।
   कहा मोल तलवार को, पड़ी रहन दो म्यान।।

मन मस्त हुआ तब क्यों बोले।
हीरा पायो गाँठ गठियायों, बार बार बाको क्यों खोले
हल्की थी तब चढ़ी तराजू, पूरी भई तब क्यों बोले।
सुरत–कलारी भई मतवारी मदवा पी गई बिन तोले।
हंसा पाये मानसरोवर, ताल–तलैया क्यों डोले।
तेरा साहब है घर माहीं, बाहर नैना क्यों खोले।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, साहब मिल गये तिल ओले।

शब्दार्थ : गांठ गठियायो–गांठ में बांधकर संभालकर रख लिया। बाको–उसको। सुरत–कलारी.. ..बिन तोले–सुरति रूपी कलारी (मद्य बेचने वाली) ने मत्त होकर बिना तोले ही बहुत पी लिया। तिल ओले–तिल की आड़ में।

प्रसंग :

भक्ति का आनन्द ऐसा होता है कि जब वह प्राप्त होने लगता है तो संसार के अन्य समस्त प्रकार के आनन्द व्यर्थ लगने लगते हैं। यह आनन्द भक्त के भीतर से उमड़ता है। इस

परमानन्द को प्राप्त करना ही मानो परमात्मा से साक्षात्कार करना है। कबीर इसी आध्यात्मिक आनन्द के अनुभव को यहाँ बता रहे हैं।

व्याख्या :

मेरा मन जब से आध्यात्मिक मस्ती में डूब गया है तब से मेरा बोलना बन्द हो गया है। अब मैं अपने साहब (स्वामी) के प्रेम से उत्पन्न परमानन्द में डूबा रहता हूँ और मुझे कुछ बोलने की इच्छा नहीं होती। मैंने तो अब राम–भक्ति रूपी अनमोल हीरे को पाकर उसे गाँठ में बाँधकर अपने पास सुरक्षित रख लिया है, अब उसे बार–बार खोलकर क्यों असुरक्षित बनाऊँ। जब तक मेरी जीवात्मा हल्की थी और वह साधना की परिपूर्णता को प्राप्त नहीं हुई थी, तब तक मैं भी अन्य लोगों की तरह बोल रहा था। अब जब मेरी साधना पूर्ण हो गयी और जीवात्मा परिपक्व हो गयी, भक्ति पथ पर दृढ़ हो गयी तो ऐसे में अब मैं उसे क्यों कुछ कहूँ। अब तो सुरत रूपी कलारी मस्ती में आकर इतनी मतवाली हो गयी है कि बिना तोले ही बेहिसाब मस्ती की मदिरा स्वयं पी चुकी है। कबीर द्रष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जिस हंस ने मानसरोवर को प्राप्त कर लिया हो, वह भला अब छोटे–मोटे तालाबों–सरोवरों पर क्यों भटकता फिरेगा। कहने का अभिप्राय यह कि जिस जीवात्मा या साधक को भक्ति से उत्पन्न परमानन्द की उपलब्धि हो गयी हो, उसे सांसारिक आकर्षणों में क्या आनन्द मिलेगा? कबीर अन्य जनों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे साधुओ सुनो! तुम्हारा सबका स्वामी (परमात्मा) तुम्हारे घर में अर्थात् तुम्हारे शरीर के भीतर ही है, उसे बाहर आँखे फाड़–फाड़कर क्यों खोज रहे हो? मैंने तो उसे अपने भीतर जब खोजा तो देखा कि वह तिल के बराबर ओट में था। मैंने उस ओट (आड़) को हटाकर उसे पा लिया। भाव यह कि तुम सब भी मेरी तरह ऐसा ही कर सकते हो।

विशेष :

1. हीरा एक बहुमूल्य पदार्थ होता है जो आसानी से सबको नहीं मिल पाता। पुराने समय में लोग सुरक्षा की दृष्टि से उसे कपड़े की गाँठ में बाँधकर छिपाकर रख लेते थे। बार–बार खोलने से किसी की निगाह में आ जाने से उसके चोरी हो जाने या छिनने का डर रहता था। यहाँ भक्ति–भाव से प्राप्त आनन्द को हीरे की भाँति बताया गया है। बार–बार खोलने से अभिप्राय उस परमानन्द से बाहर निकलकर सांसारिकता में प्रवेश करने से है जिसमें साधक को प्रारम्भ में यह भय रहता है कि एक बार उस भाव–दशा से बाहर आ जाने पर पुनः वह रसदशा प्राप्त हो पायेगी अथवा नहीं। तुलसीदास ने भी 'विनयपत्रिका' के एक पद में भक्ति की बहुमूल्यता को कुछ इसी से मिलते–जुलते अन्दाज में व्यक्त किया है– 'पायो नाम चारु चिन्तामणि उर कर तें न खसैहौं।'
2. **सुरत–** इस शब्द का प्रयोग सन्तों के यहाँ बहुतायत में हुआ है। 'सुरत' के अनेक प्रकार से अर्थ विद्वानों ने किये हैं। डॉ. रामचन्द्र तिवारी के शब्दों में, "...सुरति की व्युत्पत्ति को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद हैं किन्तु इसके तात्पर्य को लेकर कोई विशेष मत–भेद नहीं हैं, सभी विद्वान यह स्वीकार करते हैं कि 'सुरति' अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति ही है। जो चित्तवृत्ति सांसारिक विषयों की ओर प्रवाहित है वह जब ईश्वरोन्मुख हो जाती है तो उसे 'सुरति' कहते है।" (कबीर–स्मीमांसा, पृ. 177)

कुछ लोगों ने सुरति को 'स्मृति' से जोड़ा है आ. हजारीप्रसाद द्विवेदी के अनुसार, ''सुरति मूल रूप में स्मरण या स्मृति ही है, पर यह स्मृति अन्तरतम में बसे हुए किसी परम प्रियतम की है।"

3. 'हंसा पाये मानसरोवर...।' लोकश्रुति है कि हंस मानसरोवर में वास करते हैं और मोती चुगते हैं– 'की हंसा मोती चुगैं कि भूखे रह जायँ।' मानसरोवर तक पहुँच जाने वाला हंस जैसे ताल–तलैयों की ओर नहीं लौटेगा, ऐसे ही ब्रह्मानन्द का आस्वाद प्राप्त कर लेने वाली जीवात्मा सांसारिक आसक्तियों में नहीं फँसेगी।
4. 'साहब' से अभिप्राय उसी परमात्मा अथवा ब्रह्म से है जो समस्त जीवात्माओं का स्वामी है।
5. अलंकार– अनुप्रास, वक्रोक्ति, रूपकातिशयोक्ति, रूपक एवं द्रष्टान्त आदि।

संतो, सहज समाधि भली ।
साँई ते मिलन भयो जा दिनतें सुरत न अंत चली।।
आँख न मूँदूँ कान रूँधूँ, काया कष्ट न धारूँ।
खुले नैन मैं हँस हँस देखू, सुन्दर रूप निहारूँ।।
कहूँ सो नाम सुनूँ सो सुमिरन, जो कछु करूँ सो पूजा।
गिरह–उद्यान एकसम देखूँ, भाव मिटाऊँ दूजा।।
जहँ जहँ जाऊँ सोई परिकरमा, जो कछु करूँ सो सेवा।
जब सोऊँ तब करूँ दंडवत, पूजूँ और न देवा।।
शब्द निरंतर मनुआ राता, मलिन बचन का त्यागी।
ऊठत–बैठत कबहुँ न बिसरै , ऐसी तारी लागी।।
कहैं कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट कर गाई।
सुख–दुख के इक परे परम सुख, तेहि में रहा समाई।।

शब्दार्थ : रूँधूँ–अवरुद्ध करूँ। गिरह–उद्यान– घर और वन। दंडवत–एक तरह का प्रणाम जिसमें भक्त लोग हाथ जोड़कर धरती पर पेट के बल पूरी तरह लेट जाते हैं। तारी–ताली, कुंजी। अंत–अन्यत्र।

प्रसंग : ईश्वर में ध्यान लगाने के लिये भक्त अनेक प्रयत्न करता है, फिर भी बार–बार उसका ध्यान टूट जाता है। कबीर यहाँ सहज समाधि की बात कर रहे हैं जिसके लग जाने से कोई अन्य उपाय नहीं करना पड़ता।

व्याख्याः– कबीर कहते हैं कि हे सन्तो! सबसे अच्छी तो सहज समाधि है। इसमें अपने उस परम प्रिय स्वामी से मिलन हो जाता है। जिस दिन से इस सहज समाधि के द्वारा मेरा अपने स्वामी से मिलन हुआ है उस दिन से मेरी अन्तर्मुखी चित्तवृत्ति (स्मृति) अन्यत्र नहीं जाती। किसी भी चीज के प्रति नहीं लुभाता। उसी के आनन्द में डूबा रहना चाहता है। अपने उन प्रियतम से मेरा सम्बन्ध इतना घनिष्ठ हो चुका है कि अब मुझे उनको देखने–सुनने के लिये अपने आँख और कान बन्द नहीं करने पड़ते और न ही अपने शरीर को कोई कष्ट देना पड़ता है। अब तो स्थिति यह हो गयी है कि मैं अपनी खुली आँखों से अपने स्वामी को हँस–हँसकर देखता हूँ और जब तक चाहूँ उनके सुन्दर रूप को निहारता रहता हूँ। अब मुझे न तो उन्हें पाने के लिये नाम–स्मरण की आवश्यकता पड़ती है, न किसी तरह के पूजा–पाठ की और न ही वन के एकान्त में जाकर साधना इत्यादि करने की। अब मैं जो कुछ भी कहता हूँ वही उनका नाम लेना होता है और जो कुछ सुनता हूँ वही सुमिरन बन जाता है। घर और वन को भी मैं अब समान दृष्टि से देखता हूँ और अब मैंने अपने भीतर की दुविधा को मिटा दिया है। भाव यह कि मेरा स्वामी मुझे घर बैठे मिल सकता है, या कि वन में जाकर तपस्या करने से

मिलेगा, इस तरह की जो दुविधा मेरे भीतर थी, उसे मैंने अब दूर कर दिया है। इसका परिणाम यह हुआ है कि ईश्वर को प्रसन्न करने के लिये जिन बाह्य विधानों को पूरा करने के लिये लोग दूर–दूर जाते हैं, वे मेरे द्वारा किये जाने वाले सामन्य कर्मों से स्वयमेव हो जाते हैं। इसलिये अब मैं जहाँ–जहाँ भी जाता हूँ, वही मेरी परिक्रमा हो जाती है और जो कुछ भी कर्म करता हूँ वही भगवान की सेवा बन जाता है। मुझे अलग से अन्य भक्तों की तरह भगवान की मूर्ति के आगे दंडवत प्रणाम करने की आवश्यकता नहीं होती, अपितु मेरा सोना ही दंडवत प्रणाम बन जाता है। मैं अब अपने उस स्वामी परमात्मा के सिवा किसी अन्य देवता की पूजा भी नहीं करता। अब मेरा मन निरन्तर मेरे भीतर से निसृत होने वाले अनहद नाद में डूबा रहता है और मैंने अब दुर्वचनों का भी त्याग कर दिया है। समाधि की अब ऐसी ताली मेरे भीतर लग गयी है कि उठते–बैठते किसी भी समय मेरा वह स्वामी मुझसे कभी विस्मृत नहीं होता। कबीर कहते हैं कि इस समय मैं जिस उन्मनी अवस्था में रहता हूँ, सन्तो मैंने तुम्हारे सामने उसे प्रकट रूप में गाकर स्पष्ट कर दिया है। वास्तविकता तो यह है कि इस सांसारिक सुख–दुख से ऊपर एक परम सुख की अवस्था है, मैं उसी में समा गया हूँ। उस परमानन्द को प्राप्त कर लेने के कारण यह सांसारिक सुख–दुख मेरे लिये अर्थहीन हो गये हैं।

विशेष :

1. **समाधि**– ध्यान की वह उच्चतर अवस्था जिसमें साधक सांसारिकता से ऊपर उठकर परमात्मा में पूरी तरह से तल्लीन हो जाता है। इस स्थिति में प्राप्त होने वाले सुख को साधक सभी तरह के सुखों के ऊपर मानते हैं।
2. सहज साधना और समाधि की बात सिद्ध कवि भी करते हैं, परन्तु उनके यहाँ यह भोग से सहज होती है, परन्तु सन्तों के यहाँ इससे भोग छूट जाते हैं।
3. **परिकरमा**–परिक्रमा। किसी तीर्थ के चारों ओर चलना। भक्त लोग तीर्थस्थलों पर निर्धारित कई किलोमीटर की पैदल यात्रा करते हैं, उसे परिक्रमा कहा जाता है।

रहना नहिं देस बिराना है।
यह संसार कागज की पुड़िया, बूँद पड़े घुल जाना है।
यह संसार काँट की बाड़ी उलझ–पुलझ मर जाना है।
यह संसार झाड़ औ झाँकर, आग लगे बरि जाना है।
कहत कबीर सुनो भाई साधो, सतगुरु नाम ठिकाना है।

प्रसंग : संसार बड़ा आकर्षक है। यह मायामय संसार मनुष्य को अपने आकर्षण में उलझा लेता है। मनुष्य इसमें डूब जाता है, इसके आनन्द में खो जाता है; पर एक दिन पता चलता है कि उसे तो यह संसार छोड़कर जाना है। यह तो उसका है ही नहीं। कबीरदास मनुष्य के इसी सासांरिक जीवन की विडम्बना को इस पद में समझाते हैं।

व्याख्या : जिस संसार को हम अपना मानकर उसके प्रति इतने आसक्त हो जाते हैं, वह तो हमारा है ही नहीं। यह दुनिया तो हमारे लिये वैसे ही परायी हैं, जैसे हम थोड़े समय को किसी दूसरे स्थान या देश में रहने को चले जायें। जैसे हमें वह देश छोड़कर एक दिन अपने देश को वापस आना पड़ता है, ऐसे ही इस संसार को एक–न–एक दिन छोड़कर जाना ही पड़ता है। कबीरदास विभिन्न उदाहरण देते हुए मसझाते हैं कि यह संसार कागज की पुड़िया के समान है। जैसे वह पानी में भीगने से घुलकर नष्ट हो जाती है, ऐसे ही यह संसार भी एक दिन नष्ट हो जाता है। जैसे कँटीली बाड़ में फँस जाने पर जीव उसी में उलझ–पुलझकर

मर जाता है, वैसे ही मनुष्य इस संसार मे आकर यहाँ की उलझनों में फँसकर अपने जीवन को नष्ट कर लेता है। सूखे झाड़ और झंकाड़ जैसी स्थिति इस संसार की है कि एक बार आग लगी और सब कुछ जलकर स्वाहा। कबीर कहते हैं कि हे सन्तो सुनो! इस संसार से बचने और अपने जीवन को बचाने का एकमात्र ठिकाना सतगुरु का नाम है। उसी की शरण में जाओ। वही तुम्हें इससे मुक्ति का मार्ग बता सकता है।

माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँसि लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।।
केशव के कमला होइ बैठी, सिव के भवन भवानी।
पंडा के मूरत होय बैठी, तीरथ हूँ में पानी।।
जोगी के जोगिन होइ बैठी, राजा के घर रानी।
काहू के जोगिन होइ बैठी, काहू के कौड़ी कानी।।
भक्तन के भक्तिन होइ बैठी, ब्रह्मा के ब्रह्मानी।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, यह सब अकथ कहानी।।

शब्दार्थ : तिरगुन फाँसि–तीन सूत्रों से बनी मजबूत रस्सी का फन्दा, सत, रज और तम इन तीन गुणों का जाल या फन्दा। कर–हाथ। डोलै–घूमती है। अकथ–अकथनीय, कही न जा सकने वाली।

प्रसंग : जीव और ब्रह्म के बीच दूरी पैदा करने वाली शक्ति माया है। जीव (मनुष्य) का ब्रह्म (ईश्वर) से सम्बन्ध वास्तविक है। संसार से तो क्षणिक सम्बन्ध है। पर, माया उसे ऐसा भुलावे में डाल देती है कि वह ईश्वर को भूल जाता है और सांसारिक विषयों में लिप्त हो जाता है। कबीर इस माया को महाठगिनी कहते हैं जिसका शिकार होने से अच्छे–अच्छे नहीं बच पाये। वे बताते हैं कि कैसे और कहाँ–कहाँ तक इसने अपना जाल पसारा हुआ है।

व्याख्या : कबीरदास कहते हैं कि यह माया महाठगिनी है, हमने जान लिया है। यह अपने जाल में लोगों को फँसाने के लिये सत, रज और तम– इन तीन गुणों रूपी सूत्रों से बनी रस्सी का फन्दा हाथ में लिये घूमती रहती है और बड़ी मधुर भाषा बोलती है। इसके जाल में फँसने से बड़े–बड़े अच्छे नहीं बच पाये हैं। क्योंकि यह अलग–अलग रूप धारण करने में माहिर है। यही कारण है कि यह विष्णु के घर में उनकी पत्नी लक्ष्मी बनकर बैठी हुई है और शिवजी के घर में भवानी (शिव–पत्नी पार्वती) बनकर । यह पंडा के यहाँ मूर्ति के रूप में विद्यमान है तो तीर्थ में तीर्थोदक (पवित्र जल) के रूप में उपस्थित है। बड़े–बड़े योगियों के साथ यह योगिनी बनकर घूम रही है तो राजा के घर रानी के रूप में विराजमान है। किसी के घर में हीरा होकर (धन–सम्पत्ति के रूप में) यह उसे अपने आकर्षण से लुभाये हुए है तो किसी के यहाँ कानी कौड़ी (अभाव एवं दरिद्रता) बनकर उसे अपने मोहजाल में फँसाये हुए है। भक्तों के घर में उनकी भक्तिनी बनकर यह बैठी हुई है तो ब्रह्मा जैसे देवता के घर में तक उनकी पत्नी ब्रह्मानी के रूप में मौजूद है। कबीरदास कहते हैं कि हे भाई साधुओ सुनो। इस माया रूपी महाठगिनी के अनेक रूप हैं जिनमें से सबसे आकर्षक रूप स्त्री और धन का है। इन दोनों के मोह से मनुष्य तो क्या देवता तक नहीं बच पाये हैं। इसकी चर्चा और कहाँ तक करूँ। इस महाठगिनी माया की कथा इतनी बड़ी है कि इसे पूरी तरह से बताया जाना तक सम्भव नहीं है।

विशेष :

1. भक्त कवियों ने अपने काव्य में माया की खूब चर्चा की है और उसे ईश्वर की भक्ति में बाधक बताया है। इस माया के अपार विस्तार के बारे में तुलसीदास ने तो यहाँ तक लिखा है कि संसार में दिखने वाली जितनी भी चीजों तक मन जा सकता है, वह सब माया ही है– 'गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई।'
2. माया का रूप ऐसा लुभावना और इतना विविधता से युक्त है कि उसको समझकर उससे बच पाना आसान नहीं। कबीर इसलिये कहते हैं कि 'माया तजूँ तजी नहिं जाई। फिर फिर माया मोहि लपटाई !' गुरू के ज्ञान से कोई विरला ही इससे मुक्त हो पाता है– 'कहैं कबीर गुरु–ज्ञान ते, एक आध उबरन्त।'
3. काहू के हीरा..... कौड़ी कानी। कानी कौड़ी एक मुहावरा है जो अभाव का सूचक है। हीरा धन–वैभव का प्रतीक है। अभिप्राय यह कि जिसके पास अपार धन–सम्पदा है, वह उसको और बढ़ाने के फेर में पड़कर बेचैन रहता है और जिसके पास कुछ नहीं है, वह थोड़ा सा भी धन पा जाने के प्रयत्न में लगा रहता है और इस कारण व्याकुल एवं व्यस्त रहता है।

4. अलंकार– अनुप्रास, श्लेष एवं उल्लेख।

लोका मति के भोरा रे।
जो कासी तन तजै कबीरा,
तौ रामहि कहा निहीरा रे।
तब हम वैसे अब हम ऐसे,
इहै जनम का लाहा रे।
राम–भगति–परि जाको हित चित्
ताकौ अचिरज काहा रे।
गुरु–परसाद साध की संगति,
जन जीतें जाइ जुलाहा रे।
कहै कबीर सुनहु रे संतो,
भ्रमि परै जिन कोई रे।
जस कासी तस मगहर ऊसर,
हिरदै राम सति होई रे।

शब्दार्थ : लोका–लोग। मति के भोरा–बुद्धि के भोले। निहोरा– प्रार्थना, भक्ति। जनम का लाहा–जीवन का लाभ। हित–प्रेम। चित–मन । परसाद– प्रसाद। जिनि–नहीं। सति–सत्य, सच्चाई।

प्रसंग : कबीर के बारे में प्रसिद्ध है कि वे अपने अन्तिम समय में मृत्यु का वरण करने के लिये काशी छोड़कर मगहर चले गये थे। काशी को मोक्षदायिनी नगरी माना जाता है और मगहर को इसके विपरीत। इस दृष्टि से कबीर के इस निर्णय पर लोगों द्वारा जो सवाल उठाये होंगे, उन्हीं का जबाब इस पद में कबीर द्वारा दिया गया लगता है।

व्याख्या : कबीर कहते हैं कि जो लोग हमारे काशी छोड़कर मगहर जाने पर सवाल खड़े कर रहे हैं या हमारे लिये चिन्ता प्रकट कर रहे हैं, वे बुद्धि के बड़े भोले हैं। अगर यह कबीर काशी में ही अपना शरीर छोड़ेगा अर्थात् काशी में प्राण–त्याग करेगा तो फिर उसकी राम के प्रति की गयी भक्ति का क्या मतलब रह जायेगा? पहले हम भी अन्य लोगों की ही तरह सोचते थे। पर, अब हम यदि इस तरह से सोच पा रहे हैं और अपने को बदल पाये हैं तो यही तो

हमारे इस जीवन का लाभ है। अन्य लोगों के लिये हमारा अन्त समय में काशी छोड़कर मगहर जाना आश्चर्य की बात हो सकती है, पर जिनके मन का प्रेम राम–भक्ति से जुड़ा हुआ है, उन्हें इसमें कोई अचरज की बात नहीं लगेगी। यह तो गुरू के प्रसाद और साधुओं की संगति से ऐसा सम्भव हो पाया है कि जुलाहा जैसी निम्न जाति में जन्म लेने के बावजूद यह कबीर नाम का व्यक्ति जीते जी मोक्ष को प्राप्त कर सका है। कबीरदास तुम सब सन्तों से भी यह कह रहा है, ध्यान से सुनो और किसी भ्रम में मत पड़ो। अगर ह्रदय में सचमुच राम का निवास है, राम की सच्चाई है तो जैसी मोक्षदायिनी कही जाने वाली काशी है, वैसा ही ऊसर बताया जाने वाला मगहर है। सच्चे राम–भक्तों के लिये दोनों में कोई भेद नहीं है।

साधो, देखो जग बौराना।
साँची कहौ तौ मारन धावै झूँठे जग पतियाना।
हिन्दू कहत है राम हमारा मुसलमान रहमाना।
आपस मैं दोऊ लड़े मरतु हैं मरम कोई नहिं जाना।
बहुत मिले मोहिं नेमी धर्मी प्रात करैं असनाना।
आतम–छोड़ि पषानै पूजैं तिनका थोथा ज्ञाना।
आसन मारि डिंभ धरि बैठे मन में बहुत गुमाना।
पीपर–पाथर पूजन लागे तीरथ–वर्त भुलाना।
माला पहिरे टोपी पहिरे छाप–तिलक अनुमाना।
साखी सबदै गावत भूले आतम खबर न जाना।
घर–घर मंत्र जो देन फिरत हैं माया के अभिमाना।
गुरुवा सहित सिष्य सब बूड़े अंतकाल पछिताना।
बहुतक देखे पीर–औलिया पढ़ैं किताब–कुराना।
करैं मुरीद कबर बतलावैं उनहूँ खुदा न जाना।
हिन्दू की दया मेहर तुरकन की दोनों घर से भागी।
वह करै जिबह वा झटका मारे आग दोऊ घर लागी।
या विधि हँसत चलत हैं हमको आप कहावैं स्याना।
कहै कबीर सुनो भाई साधो, इनमें कौन दिवाना।

शब्दार्थ : बौराना–पागल हो गया है। पतियाना–विश्वास करना। पषानै–पत्थर। डिंभ–दम्भ, अभिमान। कबर–कब्र। मेहर–दया। स्याना–चतुर,समझदार। दिवाना–दीवाना। गुमाना–अभिमान।

प्रसंग : मनुष्य को ईश्वर से जोड़ने के उपाय धर्म के अन्तर्गत आते हैं। मंजिल सबकी एक ही है, परन्तु रास्ते अपने–अपने धर्म के अनुसार अलग–अलग हैं। अपने–अपने मत या पन्थ को श्रेष्ठ मानने के कारण कई बार धार्मिक झगड़े तक हो जाते हैं। कबीर मानते हैं कि ईश्वर तो एक ही हैं और वह बाहर कहीं नहीं, हमारे भीतर ही है। परन्तु उसे अलग–अलग मानने के कारण झगड़े होते हैं। ऐसे नासमझ लोगों को ही कबीर इस पद में फटकारते हैं।

व्याख्या : हे साधुओ! देखो, संसार कैसा बौरा (पागल) गया है। इस संसार के लोगों के सामने सच्ची बात कहो तो मारने को दौड़ते हैं और झूठी बात पर विश्वास कर लेते हैं। अब देखो, हिन्दू कहते हैं कि हमारा राम है और मुसलमान कहते है हमारा रहमान है। इसी बात पर दोनों लड़े–मरे जा रहे हैं, मर्म को कोई नहीं समझता। मर्म की बात तो यह है कि राम और रहमान अलग–अलग नहीं हैं, एक ही हैं।

मुझे बहुत ऐसे लोग मिले जो नियम–धर्म का पालन करते हैं। ऐसे लोग प्रतिदिन सुबह–सुबह स्नान करके पत्थर की पूजा तो करते हैं, अपने को ज्ञानी भी बताते हैं, पर वास्तव में उनका ज्ञान बहुत हल्का है, क्योंकि वे अपने भीतर बैठे परमात्मा को नहीं जानते और बाहर मूर्ति में उसकी तलाश करते हैं। इसी तरह से बहुत लोग ऐसे भी है जो दम्भपूर्वक आसन लगाकर बैठ जाते हैं और अपनी साधना पर बहुत अभिमान करते हैं। वे पीपल और पत्थर की पूजा करते हैं। अनेक तीर्थों की यात्रा करते हैं। बहुत तरह के व्रत रखते हैं और इसी सबमें अपने को भुलाये रखते हैं। ऐसे लोगों में कोई माला पहने होता है, कोई टोपी पहने होता है तो कोई छाप–तिलक धारण किये रहता है। यहाँ तक कि वे साखी, सबदी भी गाते हैं, परन्तु उनको आत्म–साक्षात्कार नहीं हो पाता है। यह सब करके वे इस भूल में पड़े रहते हैं कि वे ईश्वर के अत्यन्त निकट पहुँच गये हैं, पर अपने भीतर की सच्चाई को नहीं जान पाते।

इस संसार में बहुत से ऐसे गुरू हैं जो माया के अभिमान में डूबे हुए हैं। ऐसे लोग घर–घर जाकर लोगों को गुरुमंत्र देकर अपना शिष्य बनाते हैं। परन्तु, परिणाम क्या होता है? ऐसे गुरुओं को आत्मज्ञान तो होता नहीं है, वे अपने शिष्यों को क्या आत्मज्ञान करा पायेंगे? इसलिये अन्त में ऐसे गुरु जब अपने शिष्यों सहित भवसागर में डूबते हैं तो सिर्फ पछताना ही उनके हाथ आता है। इसी तरह से मैने मुसलमानों के भी बहुत से पीर और औलिया देखे हैं जो अपनी धार्मिक पुस्तक कुरान पढ़ते रहते हैं। वे क्रब तक की बात बताने का दावा करके लोगों को अपना मुरीद (प्रशंसक) बना लेते हैं, लेकिन खुदा का ज्ञान उनको भी नहीं हो पाता।

कबीर कहते कहते हैं कि हिन्दू अपने को बहुत दयावान बताते हैं और मुसलमान अपने को बड़ा मेहरबान कहते हैं। लेकिन जब अपने खाने के लिये बकरा काटते हैं तो दोनों की दया और मेहर निकल–निकलकर उनके घरों से भाग जाती है। हिन्दू झटके से बकरा काटते हैं और मुसलमान जिबह करके, लेकिन यह हिंसा की आग दोनों के घर में लगी हुई है।

तो इस तरह के तो दोनों के काम हैं, फिर भी हम पर हँसते हैं, हमारा मजाक उड़ाते हैं और अपने को बड़ा चतुर कहलाते हैं। हे साधुओं ! भला बताओ तो इनमें कौन दीवाना हुआ– हम या ऐसे लोग ?

पीछे लगा जाइ था, लोक वेद के साथि।
आगे थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि।।
दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया विसाहुणा, बहुरि न आवौं हट्ट।।
कबीर गुरु गरवा मिल्या, रलि गया आटे लूँण।
जाति–पाँति–कुल सब मिटे, नांव धरौगे कौंण।।
सतगरु हमसूँ रीझि करि एक कह्या परसंग।
बरस्या बादल प्रेम का, भीजि गया सब अंग।।

शब्दार्थः अघट्ट– न घटने वाली, कम नहीं पड़ने वाली। बिसाहुणा–व्यापार। बहुरि– फिर, दोबारा। हट्ट–हाट, बाजार। गरवा–गौरवशाली, गर्व करने योग्य। रलि गया–मिल गया, समा गया। लूँण–लवण, नमक। नांव–नाम। धरौगे–रखोगे। कौंण–कौन सा, क्या। रीझि कर–प्रसन्न होकर। परसंग–प्रसंग। भीजि गया–भीग गया।

प्रसंग :

भक्ति की राह में गुरू का बड़ा महत्त्व है। वही जब ज्ञान देता है। तब भक्त का जीवन बदलता है और उसे सही राह मिलती है। गुरू की सहायता से ही आत्मा और परमात्मा का मिलन सम्भव हो पाता है और मनुष्य का जन्म लेना सार्थक होता है। कबीर इन साखियों में अपने जीवन में आये बदलाव में गुरू के योगदान को समझा रहे हैं।

व्याख्या :

कबीर कहते हैं कि मैं अब तक लोक और वेद के पीछे लगा चला जा रहा था अर्थात लोक–परम्परा और शास्त्रों में बतायी गयी बातों के अनुसार परमात्मा को पाने की कोशिश कर रहा था। लेकिन, फिर आगे चलकर मेरे जीवन के मार्ग में मुझे सतगुरु मिल गये जिससे मेरा जीवन ही बदल गया। मेरे गुरू ने मेरे हाथ में ज्ञान का दीपक जलाकर थमा दिया जिसके प्रकाश में मुझे परमात्मा साफ–साफ नजर आने लगा।

मैंने अपने जीवन रूपी दीपक में जीवनी–शक्ति (साधना) का भरपूर तेल भर दिया है और प्राणों की कभी भी कम नहीं पड़ने वाली बत्ती लगा दी है। मैंने इस संसार में अपना व्यापार पूरा कर लिया है और इसलिये मुझे इस संसार में पुनः आने की आवश्यकता नहीं रह गयी है। कहने काम भाव यह है कि मुझे मोक्ष की प्राप्ति हो गयी है, इसलिये जन्म–मृत्यु रूपी सांसारिक आवागमन से भी मुझे मुक्ति मिल गयी है।

इस कबीर को ऐसे गौरवशाली गुरू की प्राप्ति हुई जिनके कारण इसकी आत्मा परमत्मा में ऐसे मिल गयी जैसे आटे में नमक मिल जाता है। परमात्मा से मिलन होने कारण अब कबीर की जाति–पाँति, कुल–गोत्र इत्यादि से सम्बन्धित सारी पहचानें मिट गयी हैं। अब भला इसे किस नाम से पहचानोगे।

सतगुरु ने हम पर प्रसन्न होकर हमसे एक प्रसंग (ज्ञान की बात) कहा। अर्थात् तत्त्व–चर्चा की। इसके कारण हमारे भीतर प्रेम का बादल बरस पड़ा और हम उसमें सर्वांग सरावोर हो गये।

विशेष :

1. पहले दोहे से पता चलता है कि कबीर ने अपनी भक्ति–साधना में अनेक प्रयोग किये और सतगुरु से ज्ञान पाने से पहले लौकिक एवं शास्त्रोक्त विधियों का भी अनुपालन करके देखा।
2. **पूरा किया विसाहुणा...** संसार रूपी बाजार में अपना व्यापार पूरा कर लेने का अभिप्राय है संसार–संम्बन्धी आसक्ति का मिट जाना और दुनिया के आकर्षणों–प्रलोभनों में कोई रुचि न रह जाना।
3. परमात्मा के भक्तों के लिये जाति, धर्म, कुल, गोत्र यहाँ तक कि नाम–सम्बन्धी सांसारिक पहचान का भी कोई अर्थ नहीं रह जाता। कबीर अन्यत्र भी कहते हैं– **'जाति–पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई।'**
4. **सतगुरु हमसूँ....** सतगुरु से ज्ञान पाने का हर कोई अधिकारी नहीं होता। शिष्य पर प्रसन्न होने यानि उसको जाँच–परखकर योग्य पाने पर ही वे उसे ज्ञान देते हैं।
5. पहले और दूसरे दोहे में रूपकातिशयोक्ति अलंकार का अच्छा प्रयोग है। 'रलि गया आटे लूँण' में उपमा अलंकार है। 'बरस्या बादल प्रेम का' में रूपक अलंकार है। प्रत्येक दोहे में अनुप्रास अलंकार की भी सुन्दर छटा द्रष्टव्य है।
6. दोहा छन्द का प्रयोग है जिसे कबीर–साहित्य के सन्दर्भ में **साखी** कहा जाता है।

7. भक्ति के क्षेत्र में गुरू का बहुत महत्त्व है। इसलिये निर्गुण एवं सगुण सभी कवियों ने अपने काव्य में गुरू के प्रति अपार श्रद्धा व्यक्त की है। कबीर तो अनेक दोहों में गुरु को ईश्वर से भी अधिक महत्त्व देने नजर आते हैं, जैसे–**'गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागौं पाय। बलिहारी गुरु आपने गोविन्द दियो बताय।।'**

बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।
जिय तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाहीं बिसराम।।
बिरहिनी ऊठै भी पड़ै, दरसन कारनि राम।
मूवा पीछे जिनि मिलै, कहै कबीरा राम।
पाथर–घाटा–लोह सब, पारस कौणैं काम।।
बासरि सुख ना रैंणि सुख, ना सुख सुपिनै माहिं।
कबीर बिछुट्या रामसूँ, ना सुख धूप न छाँहि।।

शब्दार्थ : जोवती–देखती। बाट–राह, रास्ता। मूवा–मृत्यू। जिनि–मत, नहीं। पारस–एक पत्थर, जिसके बारे में मान्यता है कि उसके छुवाने से लोहा सोने में बदल जाता है। कौणैं काम–किस काम का। बासरि–दिन। रैणि–रात । बिछुट्या–बिछुड़ा।

प्रसंग : गुरु के ज्ञान से जब आत्मा को परमात्मा से प्रेम हो जाता है तब वह उससे मिलना चाहती है। परमात्मा से मिलन न हो पाने की स्थिति में जीवात्मा विरह का अनुभव करती है और विकल होती है । जीवात्मा की इसी विरह–विकलता का चित्रण कबीर ने इन दोहों में किया है।

व्याख्या : हे राम । मैं बहुत दिनों से तुम्हारी बाट जोह रही हूँ और तुम्हारे आने का मार्ग देख रही हूँ। मैं इस आशा को मन में सँजोये हुए हूँ कि तुम शीघ्र आकर मुझे दर्शन दोगे। मेरा मन तुमसे मिलने को तरस रहा है और तुमसे वियोग होने के कारण मेरे मन को जरा भी विश्राम नहीं मिल पा रहा है।

हे राम ! अगर तुम दरसन देने आओगे तो तुम्हारे वियोग के कारण मरणासन्न अवस्था में पड़ी हुई यह विरहिणी जीवात्मा पुनः उठकर खड़ी भी हो जायेगी। मगर यदि यह मर गयी और उसके बाद तुम इसे दर्शन देने आये तो भला वे दर्शन इसके किस काम के होंगे, क्योंकि यह तो तुम्हारे दर्शन पाने को जीवित ही नहीं बचेगी।

कबीर कहते हैं कि हे राम! तुम मुझे मरने के बाद नहीं मिलो, बल्कि मेरे जीवित रहते ही मुझसे मिलकर मुझे अपने दर्शन कराओ। कबीर द्रष्टान्त देते हैं कि अन्य पत्थरों पर घिस–घिसकर यदि सारा लोहा खत्म हो गया, तो फिर बाद में पारस पत्थर मिल जाने पर भी वह किस काम आयेगा? कहने का अभिप्राय यह कि जीवन समाप्त हो जाने के बाद परमात्मा के मिलन का क्या प्रयोजन रह जायेगा।

कबीर कहते हैं कि जब से उनका राम से विछोह हुआ है, तब से न तो उन्हें दिन में सुख मिलता है न रात में। न धूप सुखद लगती है न छाया। यहाँ तक कि सपने तक में सुख दुर्लभ हो गया है और कहीं पर भी, कभी भी उन्हें सुखानुभूति नहीं होती।

विशेष :

1. सन्त–मत के अनुसार एकमात्र पुरुष परमात्मा (राम) है। जीवात्माएँ उसकी स्त्रियाँ हैं जो इस सत्य का ज्ञान हो जाने पर उसका वरण करने को व्याकुल रहती हैं, अपने एक पद में कबीर कहते भी हैं– **'कहै कबीर हम ब्याह चले हैं, पुरुष एक अविनाशी।'**

2. एक सामान्य विरहणी के माध्यम से आत्मा–परमात्मा के मिलन के लिये व्याकुल भावों की मार्मिक अभिव्यंजना की गयी है।
3. मोक्ष या मुक्ति की अवधारणा सामान्यतः जीव की मृत्यु के बाद की स्थिति के लिये की गयी है, परन्तु कबीर मरने के बाद के मोक्ष को निरर्थक मान, जीवित रहते ही उस स्थिति को प्राप्त करने पर बल देते हैं।
4. **'पाथर घाटा..... कौणैं काम'** में द्रष्टान्त अलंकार है, इसके अतिरिक्त अनुप्रास एवं पुनरुक्तिप्रकाश अलंकारों का भी प्रयोग हुआ है।
5. छन्द– दोहा (साखी)।

तोको पीव मिलैंगे घूँघट के पट खोल रे।
घट–घट में वही साईं रमता, कटुक बचन मत बोल रे।
धन–जोबन की गरब न की जै, झूठा पँचरँग चोल रे।
सुन्न महल में दियना बार ले, आसा सों मत डोल रे।
जोग जुगत सो रँगमहल में, पिय पाई अनमोल रे।
कहैं कबीर आंद भयो है, बाजत अनहद ढोल रे।

शब्दार्थ : पीव–प्रिय, पति। पट–परदा। घट–शरीर। कटुक–कड़वा। चोल–वस्त्र। सुन्न महल–शून्य महल। दियना–दीपक। वार ले–जला ले। जोग जुगत–योग और युक्ति। साईं–स्वामी, पति, परमात्मा।

प्रसंग : परमात्मा सभी जीवात्माओं में समाया हुआ है। वह शरीर के भीतर ही है, पर मनुष्य मन–आँखों पर भ्रम का परदा पड़ा होने से उसे देख नहीं पाता और इधर–उधर खोजता घूमता है। कबीर प्रियतम की प्रतीक्षा में बैठी स्त्री के रूपक के माध्यम से आत्मा–परमात्मा के मिलन की युक्ति बता रहे हैं।

व्याख्या : अरी जीवात्मा रूपी सुन्दरी! तू अपने मन की आँखों के आगे से भ्रम का घूँघट हटाकर तो देख, तुझे अपने प्रियतम परमात्मा के दर्शन हो जायेंगे। तू जिस परमात्मा की प्रतीक्षा में रत हैं, वह तेरा स्वामी तो प्रत्येक शरीर के भीतर मौजूद है। इसलिये किसी भी प्राणी के लिये कड़वे वचन मत बोल। तू अपने जिस यौवन एवं धन–सम्पदा पर गर्व कर रही है और उसको लेकर फूली न समा रही है, तो ऐसा मत कर; क्योंकि यह पाँच तत्त्वों रूपी आकर्षक रंगों से बना हुआ तेरा सुन्दर और सुडौल शरीर झूठा है। कारण यह कि यह सदैव ऐसी ही नहीं रहेगा और एक दिन तो ऐसा भी आयेगा जबकि यह पूरी तरह से नष्ट ही हो जायेगा। इसलिये तेरे लिये अच्छा तो यह होगा कि तू शून्यमहल में दीपक जलाकर पूरी आशा और विश्वास के साथ उस प्रियतम की प्रतीक्षा कर।

अन्त में कबीर कहते हैं कि मेरी जीवात्मा ने योग और युक्ति के द्वारा रंगमहल में अपने उस परमात्मा रूपी अनमोल प्रियतम को प्राप्त कर लिया है। जिसके कारण अब मेरे मन में निरन्तर आनन्द उमड़ता रहता है और मेरे शरीर के भीतर उस आनन्द को उपजाने वाला अनहद का ढोल अविराम बजता रहता है।

विशेष :

1. लोक–बिम्ब का प्रयोग है। गाँव–देहात की स्त्रियाँ मुँह पर लम्बा घूँघट डाले रहने से अपने ही पति को कई बार नही देख पातीं और इसलिये कभी–कभी तो उसे पहचान भी नहीं पाती।
2. एक बहुत अच्छा सामाजिक सन्देश भी इस पद में निहित है। चूँकि प्रत्येक शरीर में परमात्मा का वास है, इसलिये किसी के प्रति भी कड़वे बोल नहीं बोलने चाहिए और खराब व्यवहार नहीं करना चाहिए।
3. **पँचरंग चोल**– पांच रंगों से बना वस्त्र। पृथ्वी, जल, अग्नि, आकाश एवं वायु– ये वे पाँच तत्त्व हैं जिनसे मिलकर शरीर की रचना होती है। उक्त पाँच तत्त्वों से बने हुए शरीर के भीतर ही आत्मा का निवास होता है। इसलिये शरीर को पाँच रंगों के सूतों से बना वस्त्र कहा गया है।
4. **शून्य महल** का अर्थ है– मन की एक ऐसी अवस्था जिसमें वह सभी तरह के विचारों और विकारों से रहित हो जाता है।
5. **अनहद ढोल**– एक ऐसा आनन्दमय अखण्ड संगीत जो समाधि की अवस्था में साधक के भीतर से निःसृत होता रहता है और वह उसके आनन्द में डूबा रहता है। इसे अनहद नाद या अनाहत नाद भी कहते हैं।
6. छन्द–पद (सबद)।

अरे इन दोहुन राह न पाई।
हिंदू अपनी करे बड़ाई गागर छुवन न देई।
वेस्या के पाइन–तर सोवै यह देखो हिन्दुआई।
मुसलमान के पीर–औलिया मुर्गी–मुर्गा खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं घरहि मैं करै सगाई।
बाहर से इक मुर्दा लाये धोय–धाय चढ़वाई।
सब सखियाँ मिलि जेंवन बैठीं घर–भर करै बड़ाई।
हिंदुन की हिंदुवाई देखी तुरकन की तुरकाई।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो कौन राह ह्वै जाई।

शब्दार्थ : बड़ाई–तारीफ। पाइन तर–पैरों तले। खाला–बुआ। जेंवन–खाने को। तुरकन–मुसलमानों।

प्रसंगः

कबीर–काव्य एक बड़ी विशेषता उसकी सामाजिक मुखरता है। वे जहाँ भी कुछ गलत देखते हैं, उस पर प्रहार करते हैं। कबीर के समय के दो प्रमुख धर्मों हिन्दू–मुसलमान की टकराहट का कारण उनमें से प्रत्येक का अपने को श्रेष्ठ मानना था। कबीर इन दोनों धर्मों की कमियाँ इस पद में बता रहे हैं।

व्याख्या :

कबीर कहते हैं कि देखो, इन हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मों के लोगों ने अभी तक जीवन की सही राह नहीं पकड़ी है। अब हिन्दुओं को देखो, ये अपनी इतनी इतनी तारीफ करते हैं और पवित्रता का ऐसा दावा करते है कि किसी अन्य जाति या धर्म के व्यक्ति को अपनी पानी की गागर भी नहीं छूने देते कि इससे वह नापाक हो जायेगी। परन्तु, वेश्या के

यहाँ जाकर ये उसके पैरों में पड़ जाते हैं. तब इनकी पवित्रता और शुचिता नहीं जाती। तो, यह तो इनका हिन्दूपना है। इसी तरह से मुसलमानों की हालत देखो। इनके यहाँ बड़े–बड़े नामी पीर और औलिया हैं जो बड़े दयावान होने का दम्भ करते हैं। परन्तु साथ ही ये हिंसा भी करते हैं और मुर्गा–मुर्गी खाते हैं। और भी विडम्बना देखिए कि ये रक्त–सम्बन्धों में ही विवाह कर लेते हैं और खाला की बेटी से भी विवाह करने से नहीं चूकते। इनको बाहर से एक मृत विचारों का मुर्दा प्राप्त हो गया है जिसको अपने मन–रूपी घर में लाकर धो–धाकर बनाते है और फिर शरीर की इन्द्रियाँ रूपी सखियाँ उसको खाकर तृप्त होती हैं और उसकी प्रशंसा करती हैं।

कबीर कहते हैं कि हे भाई साधुओ, सुनो! हमने तो हिन्दुओं का हिन्दूपना भी देखा है और मुसलमानों का मुसलमानपना भी। हमें तो दोनों में कमी नजर आयी। ऐसे में बताओ तो भला कि इनमें से किसके बताये रास्ते पर चला जाये? भाव यह कि इन दोनों में से कोई मार्ग ठीक नहीं है।

विशेषः–

1. कबीर अपनी खण्डन–मण्डन की शैली के लिये प्रसिद्ध है। इस पद में भी उन्होने हिन्दु और मुसलमान दोनों धर्मों के विचारों का खण्डन किया है।

शून्य मरै, अजपा मरे, अनहद हू मरि जाय।
राम–सनेही, ना मरै, कह कबीर समझाय।।

प्रसंग :

जीवन की सार्थकता राम से जुड़ने में है। जीवित रहते ही उस परम तत्व (परमात्मा) से प्रेम कर उसको अपना बना लेने में है। यही मोक्ष है, यही अमरता है। कबीर यहाँ आत्मा–परमात्मा के इसी स्नेह–सम्बन्ध की महत्ता का बखान कर रहे हैं।

व्याख्या :

कबीरदास समझाकर कहता है कि भले ही शून्य नष्ट हो जाये, अजपा जाप खण्डित हो जाये और अनहद नाद ही क्यों न विखण्डित हो जाये, परन्तु राम से प्रेम करने वाला कभी भी नहीं मर सकता। वह अमर हो जाता है।

अपना ज्ञान परखिए के उत्तर :

1. संत–काव्य–धारा। 2. डॉ ग्रियर्सन। 3. दक्षिण भारत में। 4. डॉ गणपतिचंद्र गुप्त। 5. रामानंद। 6. नारदीया (प्रेमा) भक्ति। 7. प्रेम। 8. आ. रामचन्द्र शुक्ल। 9. रागानुगा। 10. भगवान के प्रति शरणागति। 11. गुरु ग्रंथ साहिब। 12. मिश्रबंधुओं का। 13. डॉ. रामकुमार वर्मा। 14. डॉ. पुरुषोत्तम अग्रवाल। 15. आ. हजारी प्रसाद द्विवेदी। 16. परोपकार। 17. 18. डॉ. बच्चन सिंह। 19. मगहर। 20. माया को। 21. डॉ. सुनीतिकुमार चटर्जी। 22. यमक। 23. साधो, सारा जग बौराना।

इकाई 4

मलिक मुहम्मद जायसी

इकाई की रूपरेखा

4.0 परिचय

4.1 इकाई के उद्देश्य

4.2 सूफी दर्शन और जायसी

4.3 प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा और जायसी

4.4 पद्मावत में लोक तत्व

4.5 पद्मावत का रचना-वैशिष्ट्य

4.6 पद्मावत की नागमति वियोग दर्शन की विशेषताएं

4.7 पद्मावत की प्रेम-पद्धति

4.8 पाठांश

4.9 मुख्य शब्दावली

4.10 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

4.11 अभ्यास हेतु प्रश्न

4.12 आप ये भी पढ़ सकते हैं

4.0 परिचय

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल संपूर्ण साहित्य जगत का स्वर्णयुग कहलाता है। भक्तिकाल में निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वाले मुस्लिम कवियों को सूफी कवि कहा गया, जिन्होंने अपने प्रेमाख्यानक काव्यों में हिंदू-मुस्लिम एकता पर बल दिया। सूफी कवियों में मुल्ला दाऊद, कुतुबन, मंझन आदि मुख्य हैं लेकिन जो स्थान मलिक मुहम्मद जायसी को मिला वह किसी अन्य को न मिल सका। इस इकाई में जायसी व उनके काव्य 'पद्मावत' का मूल्यांकन किया जाएगा। सर्वप्रथम जायसी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के बारे में जान लें ।

4.1 इकाई के उद्देश्य

इस इकाई को पढ़ने के बाद आप –

- सूफी दर्शन और जायसी के काव्य के स्वरूप का विस्तृत अध्ययन कर पाएंगे ;
- प्रेमाख्यान परंपरा में जायसी के स्थान का मूल्यांकन कर पाएंगे;
- पद्मावत में व्याप्त लोक तत्वों की पहचान कर पाएंगे;

- पद्मावत की रचना शैली और जायसी की काव्य भाषा की विशेषताओं का वर्णन कर पाएंगे;
- जायसी काव्य के प्रमुख पात्रों का चरित्र-चित्रण कर पाएंगे ।

4.2 सूफी दर्शन और जायसी

तसव्वुफ़ तथा सूफ़ी ये दो ऐसे शब्द है जो यद्यपि मुस्लिम समाज में अत्याधिक प्रचलित है, लेकिन इन परिभाषिक शब्दों का कुरआन व हदीस में कहीं उल्लेख नहीं मिलता है, अलबत्ता बाद में लोगों ने इसका अत्याधिक प्रयोग किया है। इसका अर्थ यह नहीं था, बल्कि जिन अर्थों में सूफ़ी या तसव्वफ़ का प्रयोग बाद के युगों में हुआ है, कुरआन में उसे 'मुकर्रब' और हदीस में 'एहसान' नाम से याद किया गया है।

"प्रसिद्ध सूफ़ी साधक शेख शहाबुद्दीन सुहरवर्दी (स्वर्गवास 632 हि.) 'अवारिफुल मआरिफ' में लिखते है, 'पूरब से पश्चिम तक इस्लामी देशों के दोनों किनारों में सान्निध्य प्राप्त किये हुए लोगों के लिए 'सूफी' शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता।' यह नाम उन्हीं लोगों के लिए प्रसिद्ध है, जो विशेष प्रकार का पहनावा पहनते हैं। पश्चिमी भागों, तुर्किस्तान और पूर्वी भागों में बहुत से अल्लाह के 'मुकर्रब'(सान्निध्य प्राप्त) बन्दे हैं, लेकिन वे 'सूफ़ी' के नाम से नहीं जाने जाते, क्योंकि वे सूफ़ियों का विशेष पहनावा नहीं पहनते । इससे मालूम हुआ कि सूफ़ी से हमारा तात्पर्य 'मुकर्रब' ही है।'

"सूफ़ी शब्द का प्रचलन दूसरी हिज़री शताब्दी के अन्त में शुरू हुआ है, इससे पहले सूफ़ियों के लिए उपरोत्क कुरआनी शब्द मुकर्रब प्रयुक्त होता था।"

शेख शहाबुद्दीन सुहरवर्दी के इन कथनों से यह बात भी स्पष्ट होती है कि ऊनी पहनावा सूफ़ियों की एक आम पहचान बन गया था। ऐसा शायद वे इस लिए सूफी शब्द की व्युत्पत्ति के संबंध में भिन्न-भिन्न विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ विद्वान 'सूफ' की सफ शब्द निकला हुआ मानते हैं। जिसका अर्थ है अग्रिम पंक्ति में जो खड़े होंगे , वे सूफी होंगे। कतिपय विद्वान मदीना की मस्जिद के समक्ष सुफ्फा-चबूतरे पर बैठने वाले फकीरों को सूफी कहते हैं। तीसरा मत यह है कि सूफी शब्द कारण ही इन्हें सूफी कहते है। कुछ विद्वानों ने सूफी शब्द संबंध सफा से जोड़ा है जिसका अर्थ पवित्र और शुद्धता है। उनके अनुसार सूफी शब्द का अर्थ पवित्र और शुद्ध आचरण वाले व्यक्ति हैं। अन्य लोगों ने इन्हें सूफा (अरब की एक जाति विशेष) या सुफ्फाह (भक्ति विशेष) का एक रूपान्तर माना है। उपर्युक्त मत किसी- न- किसी अटकलपच्ची पर आद्धत हैं, अतः किसी के आधार पर सूफी शब्द की व्युत्पत्ति का निर्णय नहीं किया जा

सकता है। इनसे कही अधिक तर्कसंगत अनुमान उन लोगों का है जिन्होंने सूफी शब्द का संबंद सूफ (ऊन) से माना है। कहते हैं कि पहले सूफी लोग मोटे ऊनी कपड़ो को धारण किया करते थे, और यह संभवतः उन कतिपय ईसाई सन्तों के अनुकरण में था, जो संसार को त्यागकर संन्यासियों जैसा जीवन व्यतीत करते थे। इनका आचरण सीधा-सादा और पवित्र था। ऐसे रहन-सहन कारण पहले इनकी निन्दा भी हुई किन्तु इसकी परवाह न करते हुए इस पहनावें को इन्होंने एक विशिष्ट प्रकार का रूप दे दिया। सूफी शब्द मूलतः अरब और ईराक के उन व्यक्तियों का सूचित करता है, जो मोटे ऊनी वस्त्रों का योगा पहनते थे। इनका विरक्तों और संन्यासियों जैसा साधनापूर्ण जीवन था और कदाचित् इसी कारण से ये लोग मुस्लिमों की अग्रिम पंक्ति में खड़े होने के अधिकारी थे।

सूफी मत को इस्लाम धर्म का प्रधान अंग स्वीकार किया जाता है, किन्तु इस दिशा में यह स्मरण रखना होगा कि सूफी मत इस्लाम धर्म की शरीयत (कर्मकांड) की प्रतिक्रिया का उसी प्रकार फल है जिस प्रकार हिन्दू धर्म-साधना में वैदिक कर्मकांड की प्रतिक्रिया का फल वैष्णव मत है। अनेक सूफियों ने अपने-आपको हजरत मुहम्मद द्वारा प्रतिपादित धर्म से अलग माना है। परन्तु फिर भी उन पर उक्त धर्म का प्रभाव यक्रिचित् मात्रा में विभिन्न रूप में देखा जा सकता है वस्तुतः सूफी मत पर ये चार प्रभाव- इस्लाम की गुह्य विद्या, आर्यों का अद्वैतवाद एवं विशिष्टाद्वैतवाद, नवअफलातूनी मत एवं विचार-स्वातन्त्र्य स्पष्ट है। सूफी मत जीवन का एक क्रियात्म धर्म तथा नियम है। इसमें किसी प्रकार की कट्टरता नहीं है। सूफी लोग उदार तथा मुलायम प्रकृति के ले।

भारत में सूफीमत का प्रवेश किस तरह हुआ इसका स्पष्टता, यूनानियों के भारत के साथ व्यापारिक संबंध के माध्यम से मसीह मत भारतीय आध्यात्मिकता से प्रभावित हुआ और उसका प्रभाव सूफी मत पर पड़ा। भारत में सूफी मत का प्रचार प्रसिद्ध अल्हुज्विरी के आगमन काल (12वीं शताब्दी) से होता है। इसके अनन्तर विविध संप्रदायों के रूप में सूफी मत का भारत में प्रचार हुआ। 'आईने अकबरी' में सूफियों के 14 संप्रदायों का उल्लेख है जिसमें प्रसिद्ध ये हैं- कादरी संप्रदाय, सुहरावर्दी, संप्रदाय, नक्शबंदी तथा चिश्ती संप्रदाय। इन सबमें प्रसिद्ध चिरितथा संप्रदाय हुआ। इस संप्रदाय की सातवी पीढ़ी में ख्वाजा मुइनुद्दीन हुए, जिन्होंने भारत में सूफी मत का प्रचार किया। यह संप्रदाय आगे चलकर अनेक शाखाओं में विभक्त हो गया। भारत में

सूफी मत का प्रचार 9वीं शताब्दी से आरंभ हुआ। 10 वीं शताब्दी में इनका विशिष्ट प्रचार हुआ। 16 वीं शती में मुगल साम्राज्य के साथ इस मत का भी ह्रयस हो गया।

सूफियों में अनेक संप्रदाय प्रचलित हैं और उनमें आध्यात्मिक सिद्धांतों के विषय में थोड़ा-बहुत अंतर भी है। किन्तु फिर भी सभी संप्रदाय यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर निर्विकार तथा निर्विकल्प है। ईश्वर के साथ एकीकरण के लिए प्रेम की पीट का उदय आवश्यक है। अहंभाव की समाप्ति ही साधना की सफलता की कुंजी है। आत्मसमर्पण से ईश्वर का साक्षात्कार संभव है। मनुष्य में जब इच्छाएँ लुप्त हो जाती हैं तो वह ब्रह्य (अल्लाह) में मिल जाता है। यही अन-अल्हक(अहं ब्रह्यासि) है। यही तसव्वुफ का चरमोत्कर्ष तथा सूफी दर्शन की पराकाष्ठा है। ईश्वर के साथ तादात्यय का एकमात्र उपकरण प्रेम है।

4.3 प्रेमाख्यानक काव्य-परम्परा और जायसी

प्रेमाख्यानों का अर्थ

'प्रेमाख्यान' का आख्यान शब्द मूलतः आख्यायिका का ही भाषान्तर-सा प्रतीत होता है और इसके ही अर्थ में कथा शब्द का भी प्रयोग होता है। परन्तु आख्यायिका होता है और इसके ही अर्थ में कथा शब्द का भी प्रयोग होता है। परन्तु आख्यायिका के लिए जहाँ कहा गया है कि वह केवल नायक द्वारा ही वर्रिगत गद्य के रूप में होती है वहाँ कथा स्वयं नायक या किसी अन्य पात्र द्वारा भी कथित हो सकती है और साहित्यशास्त्र के पण्डितों ने आख्यानादि को इन दोनों के ही अन्तर्गत मान लिया है। फिर भी जैसा 'पुराणामाख्यानम्' से प्रकट होता है 'आख्यान' शब्द का प्रयोग किसी समय पुराणों के लिए भी किया जाता था और उसके अन्तर्गत पाई जाने वाली अन्तर्कथाओं को 'उपाख्यान' की संज्ञा दे दी जाती थी। 'महाभारत' को कदाचित् इसी कारण कहीं-कहीं 'भारताख्यान' कहा गया मिलता है और उसकी कतिपय अन्तर्कथाओं को 'शकुंतलोपाख्यानम्' 'नलोपाख्यानम्' आदि कहा गया है। आख्यानों का स्वरूप स्वभावतः वर्णनात्मक हुआ करता है और उसमें आई हुई कथा को इतिवृत्तात्मक रूप में दिया जाता है। उनके कथानकों का किसी रचयिता द्वारा कल्पित कर लिया जाना ही पर्याप्त नहीं, क्योंकि वे साधारणतः लोक-प्रचलित या ऐतिहासिक भी हो सकते हैं। इसमें मुख्य अन्तर केवल इसी बात का रहता है कि प्रथम वर्ग वालों के पात्र कल्पना-प्रसूत होते हैं तथा उनसे सम्बन्धित घटनाओं के परिवर्तन वा विकास में जहाँ कवि को किसी प्रकार के बन्धन का अनुभव नहीं करना पड़ता , वहाँ दूसरे वर्ग वाली रचनाओं में

ऐसी गुंजाइश रहा करती है। प्रेमाख्यानों में प्रधानतः किसी पुरुष का किसी स्त्री के प्रति या किसी स्त्री का किसी पुरुष के प्रति प्रेमासक्त होना दिखालाया जाता है।

सूफी प्रेमाख्यानों में वर्णित कथाओं के मूल स्रोत महाभारत तथा पौराणिक ग्रंथ , प्राकृत-संस्कृत की परम्परागत कथानक रूढ़ियाँ, उदयन, विक्रम, रत्नसेन आदि ऐतिहासिक और अर्द्ध ऐतिहासिक गाथाएँ तथा विभिन्न प्रेमी-प्रेमिकाओं की लोक-प्रतिलत प्रेम कथाएँ हैं। इनमें कुछ कथानक रूढ़ियों का प्रयोग हुआ है- नायिका का नाम वती प्रत्यय वाला होना जैसे- मृगांकवती, पद्मावती, शशांकवती, लावण्यवती, हिरण्यवती आदि। नायक या नायिका का जन्म दैवीय अनुष्ठान से होना। नायिका का किसी ना किसी द्वीप की वासिनी होना- मलयद्वीप, सिंहलद्वीप, स्वर्णद्वीप आदि। स्वप्न दर्शन, चित्र दर्शन, गुणश्रवण आदि के माध्यम से प्रेमोत्पत्ति। नायक का पंडित , ब्राह्मण,भिक्षु, तपस्वी, योगी आदि के वेश में नायिका की खोज में निकलना। मन्दिर या फुलवारी में नायक-नायिका की प्रथम भेंट।

नायिका के संरक्षक से नायक का द्वन्द्व। नायक का एक से अधिक सुन्दरियों से प्रेम व विवाह। नायक को किसी मित्र, सिद्ध, योगी, बैताल या देवता की सहायता से सफलता मिलना।

प्रेमाख्यानों के पात्र मुख्यतः दो श्रेणियों के हैं- मानवीय श्रेणी के और मानवेत्तर श्रेणी के। मानवीय श्रेणी के पात्रों राजकुमार, राजकुमारी एवं उनसे सम्बन्धित विभिन्न व्यक्ति आते हैं। मानवेतर पात्रों में असुर, बैताल, हंस, तोता और अप्सराएँ आदि आती है। इनमें नायक त्यागी, पराक्रमी और बहु-विवाह वाले होते हैं। नायिकाएँ रूपवती, गुणी और सती स्वभाव की होती हैं। जायसी ने 'पद्मावत' में पद्मावती के रूप का बहुत अच्छा चित्रण किया है। नायिका के रूप-वर्णन की दृष्टि से 'मानसरोवर खण्ड' में सरोवर में स्नान करती पद्मावती का यह मनोरम रूप द्रष्टव्य है-

सरवर तीर पद्मिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकुलाई।।
ससि मुख अंग मलयगिरि बासा। नागिन झाँपि लीन्ह पुच्छु पासा।।
ओनई घटा परी जग छाहाँ। ससि के सरन लीन्ह जनु राहाँ।।
छपि गै दिनहिं भानु कै दसा। लेइ निसि नखत चाँद परगसा।।
भूमि चकोर दीठि मुखलावा। मेघ घटा महँ चन्द देखावा।।
दसन दामिनी कोकिल भाखी। भौंहें धनुष गगन लेइ राखी।।
नैन खंजन दुइ केलि करेहीं। कुच नारंग मधुकर रस लेहीं।।

प्रेमाख्यान काव्यों में वस्तु वर्णन में स्वाभावोक्ति की अपेक्षा अतिशयोक्ति को प्रमुखता दी गयी है। वस्तु वर्णन के अन्तर्गत सौन्दर्य चित्रण , घटना, दृश्य, कार्य, पर्व, पनघट, सरोवर, वाटिका, बारहमासा, बारात आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है। सरोवर वर्णन का एक उदाहरण देखें-

एक दिवस पून्यो तिथि आई। मानसरोदक चली नहाई।।

पद्मावति सब सखी बुलाई। जनु फुलवारि सबै चलि आई।।

प्रेमाख्यान काव्य का मूल भाव प्रणय या रति है। अतः इन्हें श्रृंगार रस प्रधान कहा जा सकता है। इनके श्रृंगार की विशेषता यह है कि इन्होंने प्रेम को जीवन का सर्वोपरि तत्व मानते हुए उसके प्रति अत्यन्त उच्च एवं उदात्त दृष्टि का परिचय दिया है पर यह श्रृंगार गार्हस्थ श्रृंगार से भिन्न हैं। सौन्दर्य निरूपण में इन्होंने नायिका नख-शिख, रूप-रंग, हाव-भाव एवं कलानिपुणता का भी वर्णन किया है। मुख्य रस श्रृंगार के साथ-साथ उत्साह, विस्मय, क्रोध आदि का भी वर्णन हुआ है। इनके सौन्दर्य वर्णन में कहीं-कहीं अलौकिकता और ईश्वरीय सौन्दर्य की व्यंजना भी लक्षित होती है-

सरवर रूप विमोहा, हिये हिलारहि लेइ।

पाँव छुवै मकु पावौं, एहि मिस लहरहि लेइ।।

नयन जो देखा कमल भा, दसन जोति नग हीर।।

सूफ़ी कवियों ने नायिका के रूप में परमात्मा के रूप के दर्शन किये हैं। उन्हें कभी-कभी नायिका के सौन्दर्य का प्रभाव सारी सृष्टि में दिखायी पड़ने लगता है । जायसी के पद्मावत में पद्मावती के दिव्य सौन्दर्य और उसके तेज से ही संसार के समस्त ज्योति पुंज प्रकाशित है। उसके प्रेम वाणों से सारा संसार विद्ध है। सभी उसके अनुराग में अनुरक्त है-

जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुते जोति-जोति वह गई ।।

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोति। रतन पदारथ मानिक मोती।।

जँह-जँह बिहँसि सुनावहि हँसी। तहँ-तहँ छिटकी जोति परगसी।।

4.4 पद्मावत में लोक तत्व

प्रेमाख्यानों में भारतीय समाज का बहुत यथार्थ चित्रण हुआ है। विशेष करके विरह वर्णन के दौरान इन कवियों ने बारहमासा का वर्णन करते हुए लोक-जीवन की समस्याओं की चर्चा की है। जायसी की नागमती जब अपनी समस्याओं की चर्चा करती

है तब वह रानी के आसन से उत्तर कर एक साधारण स्त्री बन जाती है। उसकी समस्याएँ तमाम भारतीय स्त्रियों की समस्याएँ बन जाती हैं-

तपै लागि अब जेठ असाढ़ी । मोहि पीउ बिनु छाजनि गाढ़ी।।
तन तिनउर भा, झूरों खरीं। भर बरखा दुख आगर जरी।।
बंध नाहिं औ कंध न कोई। बात न आव कहौं का रोई।।
सांठि नाहिंजग बात को पूछा। बिनु जिउ फिरै मंजु तनु छूंछा।।
भई दुलेही टेक बिहूनी। थांभ नाहिं उठ सकै नथूनी।।
बरसै मेह चुवहिं नैनाहा। छपर-छपर होइ रहि बिनु नाहा।।
कोरौं कहाँ ठाठ नव साजा। तुम बिनु कंत न छाजनि छाजा।।

सूफ़ी कवि सांस्कृतिक और धार्मिक स्तर पर अत्याधिक उदार थे। उन्होंने अपने धर्म पर दृढ़ रहते हुए भी भारतीय जनता और विशेष कर हिन्दू जनता के हृदय में बढ़ती हुई दरार और उसके घावों को भरने का महत्वपूर्ण कार्य किया। उन्होंने भिन्न धर्म, भिन्न संस्कार, भिन्न भाषा तथा भिन्न सामाजिक परम्पराओं के अनुयायी विशाल मानव समूह को निकट लाकर एक दूसरे को समझने तथा परखने का अवसर प्रदान किया। उनकी इन विशेषताओं को लक्ष्य करके आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि "कुतुबन" जायसी आदि इन प्रेम कहानी के कवियों ने प्रेम का शुद्ध मार्ग दिखाते हुए उन सामान्य जीवन दशाओं को सामने रखा जिनका मनुष्य मात्र के हृदय पर एक सा-प्रभाव दिखाई पड़ता है। हिन्दू हृदय और मुसलमान हृदय आमने-सामने करके अजनबीपन मिटाने वालों में इन्हीं का नाम लेना पड़ेगा। इन्होंने मुसलमानों होकर हिन्दुओं की कहानियाँ हिन्दुओं की ही बोली में पूरी सहृदयता सेकह कर उनके जीवन की मर्मस्पर्शिनी अवस्थाओं के साथ अपने उदार हृदय का पूर्ण सामन्जस्य दिखा दिया।"

सूफ़ी कवियों का सांस्कृतिक क्षेत्र में सबसे बड़ा महत्त्व यह है कि उन्होंने अपनी प्रेम-कथा के माध्यम से दो भिन्न समुदाय के लोगों में सौहार्द प्रेम और परस्पर विश्वास का वातावरण उत्पन्न किया। इन कवियों की एक विशेषता यह भी है कि इनमें इस्लाम के अनुयायियों जैसी कट्टरता नहीं थी। इस्लाम का आदर करते हुए भी इन्होंने सभी धर्मों के महत्व को स्वीकार किया। जायसी कहते हैं कि-

विधना मारग है तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते।।
जे हेरा ते तहवैं पावा। भा सन्तोष समुझि मन भावा।।

इन कवियों पर वेदान्त का प्रभाव भी पर्याप्त दिखाई पड़ता है। अद्वैत वेदान्त के सिद्धान्तों का 'अखरावट' में उल्लेख करते हुए जायसी कहते हैं-

बूँदहि समुद्र समान यह अचरज कासो कहौं।
जो हेरा सो हेरान मुहमद आपुहि आप महौं।।

इस तरह से दार्शनिक स्तर पर मानव मात्र की एकता बताते हुए सुफी कवियों ने हिन्दुओं और मुसलमानों के धार्मिक तथा सामाजिक सह-अस्तित्व का मार्ग प्रशस्त किया-

एक चाक सब पिण्डा गढ़े। भाँति-भाँति के भांडा गढ़े।
तिन्ह सन्तति उपराजा भाँतिन-भाँति कुलीन।
हिन्दू तुरुक दुवो भये अपने-अपने दीन।।

जायसी ने बौद्ध, जैन तथा वैष्णव सम्प्रदायों के अहिंसा सिद्धान्तों को भी अपने काव्य में स्थान दिया है-

छाँड़हु घिउ औ मछरी माँसू। सूखे भोजन करहु गरासू।।

इसी प्रकार इस्लामी सत्ता के होते हुए भी हिन्दुत्व के महत्व को स्वीकार करना जायसी एवं अन्य सूफी कवियों का उदारतावादी तथा मानवतावादी दृष्टिकोण है। यह सांस्कृतिक समन्वय का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है। इनकी कविताओं में भारतीय मान्यताओं, परम्पराओं और पर्वों-त्योहारों तथा लोक-विश्वासों एवं सामान्य आदमी के जीवन की समस्याओं का भी बहुत सजीव चित्रण हुआ है। ऐसे वर्णनों में लोक-जीवन के प्रति उनकी गहरी रुचि और आत्मीयता के दर्शन होते हैं।

प्रेमाख्यान काव्यों को कुछ लोगों ने मसनवी काव्य माना है। मसनवियों की कथा सर्गों या अध्यायों में विभक्ति नहीं होती, सारा काव्य एक ही छन्द में होता है, कथा का आरम्भ ईश्वर स्तुति, पैगम्बर की बन्दना, तत्कालीन शासक का उल्लेख के साथ होता है। इन आधारों पर इन रचनाओं को मसनवी बताने का प्रयास किया गया है। आचार्य शुक्ल ने इनके अधिकांश रचनाकारों को मुसलमान बताया था। किन्तु आचार्य शुक्ल के समय में इस परम्परा के आठ आख्यान ही उपलब्ध हुए थे जिनमें से छः के रचयिता मुस्लिम थे। जबकि अब इस परम्परा से सम्बन्धित तिरपन कवियों की रचनाएँ उपलब्ध है जिनमें से छत्तीस हिन्दू हैं। ठीक से देखने पर ये प्रेमाख्यान पूरी तरह मसनवी काव्य नहीं ठहरते। इनमें भारतीय परम्परा ही अधिक है। अतः ये मसनवी काव्य न होकर कथा-काव्य हैं। इनकी शैली इतिवृत्तात्मक और भाषा अभिधा

प्रधान है। कहीं-कभी रूपक और प्रतीकों का भी प्रयोग हुआ है। उदाहरण के लिए पद्मावती की एक सहेली का यह कथन रूपक की विशेषताओं से संयुक्त है-

ए रानी मन देखु विचारी। एहि नैहर रहना दिन चारी।।

जब लगि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जो खेलन आजू।।

पुनि सासुर हम गौनब काली। कित हम कित एह सरवर पाली।।

इन रचनाओं में अन्योक्ति , समासोक्ति और कुछ अन्य अलंकारों के प्रयोग से इनकी कलात्मकता बढ़ गयी है।

4.5 पद्मावत का रचना– वैशिष्टय

मलिक मुहम्मद जायसी के सम्बन्ध में यह अनुमान किया जाता है कि वे हिन्दुत्व से धर्मांतरित मुसलमान थे। यह सत्य है कि हिन्दी के सूफी कवि अरब या ईरान से नहीं आए थे और कुछ सौ वर्ष पूर्व यहाँ न तो कुरान था और न मुसलमान। यहाँ तो कुछ हजार मुसलमान सैनिक ही आए थे, जो प्रायः पेशावर, पंजाब , सिंध, राजस्थान, कश्मीर, दिल्ली आदि में सम्पत्ति लूटकर, विवाह कर और राजपाट छीनकर बस गए। पहले दौर में विलासी, कायर, विश्वासघाती और अत्याचारी राजा- रजुल्ली, सामंत आदि मुसलमान बने। दूसरे दौर में निराश्रित और अरक्षित गरीब हिन्दू। तीसरे दौर में सामाजिक समानता के इच्छुक छोटी जातियों के अन्य लोग।

जायसी की उम्र के सम्बन्ध में विवाद है। डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने इतिहास के आलोक में उनका जीवनकाल १४६३ ले १५५१ ई. (लगभग ८८ वर्ष) निर्धारित किया है। यह बारतीय इतिहास में लोदीवंश, मुगलवंश, सूरीवंश, पुनः मुगलवंश का काल है। वे बाईं आँख के अन्धे, बाएँ कान के बहरे थे- 'मुहम्मद बाईं दिसि तजा, एक सरबन एक आँखि।' शेरशाह उन्हें देखकर हँस पड़ा तो जायसी ने प्रश्न किया- 'मोहिका हंसेसि कि कोहरहिं' (निर्माता कुम्हार पर हँसते हो कि मुझ पर ?)। आचार्य शुक्ल ने लिखा है कि 'मलिक मुहम्मद एक गृहस्थ किसान के रूप में ही जायस में रहते थे। ये आरम्भ से बड़े ईश्वर भक्त और साधु प्रकृति के थे।'उनका नियम था कि जब वे अपने खेतों में होते, तब अपना खाना वहीं मंगवा लिया करते थे। खाना वे कभी अकेले न खेते, जो आसपास दिखाई पड़ता, उसके साथ बैठकर खाते थे। जायसी के पुत्र थे, पर वे दुर्घटना में मर गए। तब से जायसी संसार से और बी विरक्त हो गए। अमेठी के राजा रामसिंह उन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे।' प्रतापगढ़-अमेठी क्षेत्र में जायस नगर उनका स्मारक है।

नखशिख सौन्दर्य वर्णन- (रूप सौन्दर्य) पद्मावत ग्रन्थ में हीरामन सुग्गे को जायसी ने गुरु (पीर-मुर्शिद) के रूप में प्रस्तुत किया है तथा पद्मावती को ईश्वरीय सौन्दर्य(महबूब) के रूप में। राजा रत्नसेन मुरीद या शार्गिद साधक है। चित्तौड़ (संसार) में वह नागमती के साथ इश्क मिजाजी (सांसारिक प्रेम) में पड़ा हुआ है। नखशिख खण्ड में सूफी सिद्धान्त के अनुसार राजा सत्नसेन को सग्गे के माध्यम से पद्मावती के ईश्वरीय नारी सौन्दर्य का उसी प्रकार बोध होता है जैसे मजनू को लैला के, फरहाद को शीरी के सौन्दर्य का बोध हुआ। ईरानी या भारतीय सूफी काव्य की यह सामन विशेषता है। ज्ञात हो कि पद्मावत एक प्रेम गाथा है, 'मानस' की भाँति पूर्ण जावनगाता नहीं।

हीरामन सुग्गा योगियों, यक्षिणियों आदि से भरपूर सिघलद्वीप (काल्पनिक साधना केन्द्र) से आया था। पद्मावती वहाँ के राजा गंधर्वसेन की पुत्री थी। हीरामन ने पद्मावती (पद्मिनी) के रूप का वर्णन करते हुए परिचय दिया कि जिस प्रकार सूर्य की प्रभा के समक्ष चाँद छिप जाता है वैसे ही पद्मावती के रूप के समक्ष सबकुछ छिप जाता है-

उअत सूर जस देखिअ, चांद छपै तेहि धूप।
ऐसे सबै जाहिं छपि, पद्मावति के रूप ।।

तब राजा पद्मिनी के रूप पर मग्ध होने लगा, और धीरे-धीरे उसके मन में प्रेम का भाव तीव्र हो उठा। वह कह उठा- 'अब मैं पंथ प्रेम सिर मेला।' उसने विश्वास प्रकट करते हुए सुग्गे से कहा-

जस अनूप तू बरनेसि, नख सिख बरनु सिंगार।
है मोहिं आस मिलै कै, जो मेरवै करतार।।

तत्पश्चात् पद्मावत के दसवें खण्ड में सुग्गे ने पद्मिनी के नखशिख सौन्दर्य का भारतीय प्रबन्ध शैली में विस्तृत वर्णन किया। यहाँ आश्रम राजा रत्नसेन के प्रेम (रति स्थायीभाव) के आलंबन पद्मावती का पूरा रूप सौन्दर्य कल्पना प्रवणता के साथ शब्दचित्र के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आचार्य शुक्ल के शब्दों में- 'जैसा कि पहले कह आए हैं, रूप सौन्दर्य ही सारी आख्यायिका का आधार है। अतः पद्मावती के रूप का बहुत ही विस्तृत वर्णन तोते के मुँह से जायसी ने कराया है। यह वर्णन यद्यपि परम्परायुक्त ही है, अधिकतर परम्परा से चले आते हुए उपमानों के आधार पर ही है, पर कवि की भोली और प्यारी भाषा के बल से वह श्रोता के हृदय को सौन्दर्य की अपरिमित भावना से भर देता है। सृष्टि के

जिन जिन पदार्थों में सौन्दर्य की झलक है, पद्मावती की रूप राशि की योजना के लिए कवि ने मानो सबको एकत्र कर लिया है। जिस प्रकार कमल, चंद, हंस आदि अनेक पदार्थों से सौन्दर्य लेकर तिलोत्तमा का रूप संघटित हुआ था, उसी प्रकार कवि ने मानो पद्मावती का रूप विधान किया है।'

पद्मावती (पद्मिनी) का स्वतन्त्र रूप वर्णन काव्य में प्रायः दो स्थानों पर हुआ है। एक जब चित्तौड़ में हीरामन सुग्गा राजा रत्नसेन से उसके सौन्दर्य का वर्णन करता है, दूसरे जब दिल्ली में राघवचेतन बादशाह अलाउद्दीन से उसके सौन्दर्य का वर्णन करता है। 'दोनों स्थानों पर वर्णन नखशिख की प्रणाली पर और सादृश्यमूलक है। अतः उसका विचार अलंकारों के अंतर्गत करना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है।' फुटकल सौन्दर्य वर्णन और स्थानों पर भी हुए हैं।

राजा रत्नसेन के प्रेम का विकास सौन्दर्य श्रवण से हुआ है, जिसे सुनकर वह मूर्च्छित हो जाता है और मिलन के लिए आतुर। इसी प्रकार सिंहल में उसे देखकर भी मूर्छित होता है। यह सौन्दर्य वास्तव में महबूब-ए-आजम (श्रेष्ठ प्रेमपात्र अल्ला) का सौन्दर्य होता है, जिसे कुरान में 'नूर' या 'जलाल' (प्रकाश) कहा गया है। सौन्दर्यानुभूति के पश्चात प्रेम की मादकता और आतुरता इतनी तीव्र हो उठती है कि हबीब (प्रेम या साधक) प्रिय से मिलने के लिए घर, परिवार एवं संसार का परित्याग करने को तत्पर हो जाता है। इश्क का दीवाना बार बार हाल (मूर्छा) में भी चला जाता है। सूफी कवि इस सौन्दर्य के माध्यम से ईश्वरीय सौन्दर्य का चित्रण करते हैं।

डॉ. रामचन्द्र तिवारी ने पद्मावती के अत्यन्त रमणीय और प्रभावशाली सौन्दर्य वर्णन का समाहार करते हुए जायसी की प्रशस्ति में लिखा है कि 'आलम्बन के रूप वर्णन में जायसी का मन खूब रमा है। पद्मावती का रूप चित्रण करते समय जायसी न तो थकते हैं, न अघाते हैं। पद्मावती के युवती होने पर वे एक बार उसका नखशिख वर्णन कर जाते हैं। मानसरोवर में स्नान करने के लिए उद्यत पद्मावती का वे संक्षिप्त , किन्तु मोहक चित्र खीचते हैं। रत्नसेन के आग्रह पर हीरामन तोते द्वारा वे पुनः उल्लसित भाव से विस्तार पूर्वक उसका रूप वर्णन करते हैं और प्रसंगवश एक बार फिर उसका अलंकृत सौन्दर्य अंकित कर देते हैं। लक्ष्मी-समुद्र खण्ड में क्लांत पद्मावती का शिथिल, मलीन रूपचित्र प्रस्तुत करना भी वे नहीं भूलते। नागमती-पद्मावती विवाह के अवसर पर स्पर्धा की भावना से स्वयं पद्मावती का रूप वर्णन करता है। सामान्यतः इन वर्णनों का विस्तार पाठक को उबाने वाला सिद्ध होता, किन्तु ऐसा नहीं हुआ है।'[१]

महाकवि जायसी अपने काव्य कौशल, नई उद्भावना, उत्प्रेक्षा के सौन्दर्य, सादृश्य के चमत्कार से जिज्ञासा बढ़ाते रहते हैं।

मध्यकाल के प्रायः सभी साहित्य इतिहास लेखकों तथा समीक्षकों ने जायसी द्वारा वर्णित रूप सौन्दर्य, रत्नसेन पद्मिनी विवाह, नागमती वियोग एवं वारहमासा, राजा बंधन, गोरा-सरजा युद्ध , सतीखंड आदि के काव्य सौन्दर्य का परीक्षण करने का प्रयत्न किया है। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने भी पद्मावती (पद्मिनी) के नखशिख सौन्दर्य चित्रण की विविधताओं का वर्णन किया है। उनका अभिमत है कि-

१. जायसी ने पद्मावती के रूप को पारस (पत्थर) कहा है, जिसके स्पर्श से लोहा भी सोना हो जाता है। पद्मावती के रूप के दृश्य स्पर्श से जगत माधुर्य भाव से भर जाता है। जब चित्तौड़गढ़ में अलाउद्दीन ने पद्मावती के रूप की एक झलक (दृश्य सौन्दर्य) दर्पण में देखी तो ज्ञात हुआ कि धरती और आकाश सब स्वर्णवत (अति प्रिय) हो गए- 'होवहिं दरस परस भइ लोना, धरति सरग भएउ सब सोना।'

२. रूप वर्णन में कवि ने अधिकांश स्थानों पर उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति

अलंकारों का प्रयोग किया है, किन्तु उसमें विशेषता तब बढ़ जाती है, जब केवल वस्तु (नखशिख) का वर्णन मात्र न होकर उन स्थलों में संवेदना और अनुभूति की व्यंजना होती है। भावों का उदात्तीकरण होता है। 'इसलिए सहृदय का चित्त वस्तु की ओर जाने ही नहीं पाता। फिर कवि बराबर परोक्ष सत्ता की ओर इशारा करता है और इस प्रकार सहृदय का मन प्रस्तुत विषय से हटकर अप्रस्तुत परोक्ष सत्ता की ओर जाता रहता है।'[१]

हीरामन सुग्गा पद्मावती के सौन्दर्य (नखशिख) का अनन्वय अलंकार में वर्णन कर उसे अद्वितीय बताते हुए कहता है-

का सिंगार ओहि बरनौ राजा। ओहिक सिंगार ओही पै छाजा।

घुंघराले बालों का प्रभाव सुदृढ़ प्रेम बंधन की भाँति हैं। गले में पड़ना ही चाहता है।

घूंघरवार अलकैं विषभरी। संकरै पेम चहै गिउपरी

अध्यात्मवाद के योग के साथ पद्मावती की मांग की तुलना ज्योतिपुंज दीपक से की है-

बरनौ मांग सीस उपराहीं, सेंदुर अबहिं चढ़ा जेहि नाहिं।

बिनु सेंदुर अस जानहु दीआ। उजियर पंथ रैनि मंह कीआ।।

पद्मावती के लिलाट में जो प्रकाश है, उसके सामने सहस्त्र किरणों से दीप्त सूर्य भी छिप जाता है-

सहस किरिन जो सुरुज छिपाई। देखि लिलार सोऊ छपि जाई।

कवि एक-एक अंग का शब्द चित्र प्रस्तुत करता है। सादृश्य अलंकार से इतर वस्तुओं की तुलना करता है। उत्प्रेक्षा और अतिशयोक्ति के साथ केवल अतिरेक ही प्रस्तुत नहीं करता, वरन् हमारे मनोविज्ञान को एक ओर मानवीय सौन्दर्य से तथा दूसरी और अध्यात्मवाद से प्रभावित करता रहता है।

पद्मावती द्वारा पुतली फेरने से आनन्द सागर में हिलोरे उठने लगती हैं-

जग डोलै डोलते नैनाहां। उलटि अड़ार जाहि पल माहां।

जबहि फिराहिं गगन गहि बोरा। अस बै भंवर चक्र के जोरा।।

इसी प्रकार दांतों का वर्णन करते करते कवि की कल्पना दिव्य ज्योति (इश्क-हकीकी के महबूब) की ओर अग्रसर होती प्रतीत होती है-

जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतै जोति जोति ओहि भई।

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती।।

जायसी ने इस प्रकार पद्मावती के सिर से पैर तकशिखनख) का सौन्दर्य वर्णन किया है। जहाँ जहाँ अवसर लगा है वहाँ वहाँ ईश्वरीय सौन्दर्य का आरोपण भी किया है। पैर का वर्णन करते समय लिखा- देवता हाथ हाथ पगु लेहीं। जंह पगु धरै सीस तंह देहीं।

माथे भाग कोउ अस पावा। चरन कंवल लेइ सीस चढ़ावा।।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने समस्त वस्तु वर्णन को आलम्बन के अन्तर्गत स्वीकार किया है। 'वस्तु वर्णन का संक्षेप में इतना दिग्दर्शन कराके हम यह कह देना आवश्यक समझते हैं कि जिन जिन वस्तुओं का विस्तृत वर्णन हुआ है, उन सबको हम 'आलम्बन' मानते हैं। जो वस्तुएँ किसी पात्र के आलम्बन के रूप में नहीं आतीं, उन्हें पाठक के प्रति उनका प्रत्यक्षीकरण करता है। उनके प्रत्यक्षीकरण में कवि की भी वत्ति रमती है और श्रोता या पाठक की भी। वन, सरोवर, नगर, प्रदेश उत्सव सजावट, युद्ध, यात्रा, ऋतु इत्यादि सब वस्तुएँ और व्यापार मनुष्य की रागात्मिक वृत्ति के सामान्य आलम्बन हैं। अतः इनके वर्णनों को भी हम रसात्मक वर्णन मानते हैं। आलंबन मात्र के वर्णन में भी रसात्मकता माननी पड़ेगी।"

4.6 पद्मावत की नागमती वियोग वर्णन की विशेषताएँ

सूफी-साधना और साहित्य में 'प्रेम' का अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। उनकी साधना प्रेम की साधना है, उनका साधना मार्ग प्रेम-पंथ है, उनका साध्य प्रेम-प्रभु है, उनका 'एक भरोसो एक बल एक आस विस्वास' प्रेम ही हैं। यदि सूफी साधकों को प्रेमी-साधक कहा जाय तो असंगत न होगा। 'प्रेम उनके काव्य के समस्त प्रतीकों में सर्वश्रेष्ठ प्रतीक हैं। रति का जो आलम्बन है वही प्रियतम का प्रतीक है। सूफी चाहे जिस किसी को प्रेम के पुल पर चलकर ही सूफी साधक भवसागर पार करते हैं। प्रेम ही उनका अमोघ अस्त्र है, वही उनका परम साधन है।' "प्रेम ज्ञान मारिफ की भाँति ईश्वरीय से प्रेम करता हूँ। पर विचार करने पर ज्ञात हुआ कि प्रेम जो मेरे ऊपर छाया हुआ है उसका है।"

मानव स्वयं परमात्मा का अंश है। उसमें प्रेमी भी दिव्य स्रोत से दी आया है और वह दैवी विभूति स्वयं प्रेम-रूप है। इब्तुल अरबी ' के अनुसार प्रेम का मूल कारण सौन्दर्य ही है, परमात्मा सर्वाधिक सौंदर्य-रूप है और सौन्दर्य की अनिवार्य प्रकृति है कि वह प्रेम किए जाने के लिए अपने को प्रकट करता है। ईश्वर ने अपने ही सौन्दर्य को देखने के लिए दर्पण-रूपी विश्व का निर्माण किया है।

'आपु आपु चाहसि जो देखा। जगत साजि दरपन के लेखा।

घट-घट जस दरपन परछाही। नान्हें मिला दूर फुनि नाहीं।।

अल्फराबी में कहा है "ईश्वर स्वयं प्रेम है। सृष्टि का कारण भी प्रेम है। प्रेम के माध्यम से सृष्टि की इकाइयाँ जो प्रेम के महास्रोत में , जो पूर्ण सौंदर्य और सर्वोतम भी है, निमग्न ही जाने के लिए जुड़ी हुई हैं।"

विद्वानों की राय है कि वाह्य-सौंदर्य की कोई निश्चित परिभाषा नहीं दी जा सकती । जिस पदार्थ विशेष की ओर जिसका मन आकर्षित हो जाय, वही सुन्दर है। रुचि हो, उसके लिए वही सुन्दर है। 'क्षणो क्षणो यन्नवतामुपैति तदेव रूपं रणीय मतायाः' भी कहा जाता है। वह अवश्य सत्य है कि मानव निसर्गतः सौंदर्य प्रेमी है। अन्तः सौंदर्य होने का लक्ष्य है। वह अवश्य सत्य है कि मानव निसर्गतः सौंदर्य प्रेमी है। अन्तः सौंदर्य से तात्पर्य समत्व और पूर्णता से है। मानव के समस्त प्रयत्नों के मूल में सुन्दर और पूर्ण होने का लक्ष्य है। परम सौंदर्य रूप ईश्वर ही है, अतः विश्व में एक मात्र वही पूर्ण है, अतः वही मानस का काव्य और आदर्श भी है। उस पूर्णता को प्राप्त करने के लिए मानव ईश्वर में अनुरक्त होता है। वह उसके साक्षात्कार की अभिलाषा करता है। सच-मुच प्रेम के लक्षणों में प्रियतम के साक्षात्कार की कामना महत्वपूर्ण है।[b]सौंदर्य

वह है जो वास्तव में प्रेम को जन्म देता है। अतः आत्मा की दृष्टि सांसारिक सौंदर्य से गुजरते हुए अन्यत्र लगी रहती है। पूर्ण सौंदर्य ईश्वर में है। अतः वहीं सच्चे प्रेम का अधिकारी भी है।"[५]

वस्तुतः सुन्दरता में एक जादू है जो, मानव चित्त को अभिभूति कर लेता है। सौन्दर्य और प्रेम में अन्योन्य सम्बन्ध है। सौंदर्य जितना ही अधिक होगा, प्रेम की मात्रा उतनी ही तीव्र होगी। ईश्वर सुन्दरतम है,अतः उसका प्रेम ही वास्तविक और पूर्ण प्रेम है। वेदों में ईश्वर की उपासना का भाव वर्तमान है, उसके मूल में एक यह भी कारण है। प्रारम्भ में सौंदर्य की स्तुति या प्रशंसा की भावना रहती है, यही भावना विकसित होकर तल्लीनता के रूप में परिणत हो जाती है। हसन सुहरवर्दी ने ठीक ही कहा है कि "सौन्दर्य के गहरे चिन्तन के लिए हृदय का झुकाव ही प्रेम है।"

ईश्वरीय प्रेम ज्ञान-जन्य होता है, अतः प्राप्त आनन्द अनिवर्चनीय होता है। ईश्वरीय सौन्दर्य ही वास्तविक सौन्दर्य है। अतः उससे प्राप्त सौन्दर्यानन्द का कोई आर-पार ही नहीं होता, भक्त या प्रेमी विस्मय से अभिभूत होकर निर्वाक् रह जाता है।

प्रेमानुरागी मर भी जाए, तो अमर हो जाता है। प्रेमी केवल प्रेमी ही नहीं रहना चाहता है, वह प्रियतम से मिलकर तादात्मता का अनुभव करना चाहता है। वह प्रेम पंथ पर चलने के लिए अपना सर्वस्व त्याग देने को प्रस्तुत रहता है। शलभ दीपकमय हो जाना चाहता है, कमल जल के सूखने के साथ ही सूख जाता है। मछली जल के वियोग में तड़प-तड़प कर प्राण दे देती है। वास्तव में प्रेमी प्रेम की अग्नि है और अन्त मृत्युहै।' ऐसा होने पर भी प्रेमी साधक अमरता को ही प्राप्त करता है। मंसूर ने कहा था कि ईश्वर से मिलन तभी संभव है जब हम कष्टों से बीच से होकर गुजरें"[३] इसलिये सूफी साहित्य में प्रेमी को भयावह कष्टों का सामना करना पड़ता है।

यह अवश्य द्रष्टव्य है कि सूफियों की दृष्टि सदैव इस तथ्य की ओर रही है कि वासना का उन्नयन और परिमार्जन किया जाए। सूफी संसार से अपना सम्बन्ध बनाए रखते हुए भी वासना को उपस्थित नहीं होने देना चाहता। ईरान के अनेक सूफी महात्माओं (यथा-अलगज्जाली बाबा फरीद आदि) ने वैवाहिक जीवन का समर्थन किया है। 'मात्र संतानोत्पति के लिए ही नहीं, अपितु ताजगी और सन्तोष के लिए भी वैवाहिक जीवन आवश्यक है। पत्नी के साहचर्य से हृदय को सन्तोष का अनुभव होता है। इससे ईश्वर की सेवा करने के लिए शक्ति मिलती है।

वासना के परिष्कार के साथ ही लौकिक प्रेम ईश्वरीय प्रेम में परिणत होने लगता है। सूफियों के अनुसार सांसारिक प्रेम(इश्क मजाजी) ईश्वरीय प्रेम (इश्क हकीकी) का प्रथम सोपान है। संपूर्ण सूफी प्रेम काव्य इसी आधारशिला पर अलंकृत
हैं। जब प्रेमी में पूर्ण स्कुरण हो जाता है, तब उसमें सम दृष्टि आ जाती है। वह सभी मजहबों से ऊपर उठ जाता है। उसका धर्म केवल खुदा का प्रेम है। रूमी का कथन है। "इश्क का मजहब सभी मजहब से अलग है। खुदा के आशिकों के लिए खुदा के अलावा कोई मजहब नहीं है।"

सचमुच 'प्रेम की मदिरा अपार गुणकारी है। उससे शरीर और प्राणों को शक्ति प्राप्त होती है। उसके पीने से रहस्य का उद्‌घाटन होता है अतः मैं उस मदिरा का एक घूँट पीना चाहता हूँ। पीने के बाद मुझे जीवन और मृत्यु की चिन्ताएँ न सताएँगी। ईश्वर के प्रेमी से यदि प्रश्न किया जाए कि 'तुम कहाँ से आए' तो उसका उत्तर होगा 'प्रियतम के पास से ?'

'तुम क्या चाहते हो ?'

'प्रियतम।'

'तुम्हें कहाँ जाना है ?'

'प्रियतम के पास।'

'कब तक प्रियतम-प्रियतम करते रहोगे ?'

'जब तक मिलन न होगा।'

.....

'उसने कहा क्या नाम है ?'

'मैंने कहा आशिक तेरा।'

'उसने कहा क्या काम है ?'

'मैंने कहा सौदा तेरा।'

उसने कहा आए कहाँ ?

मैंने कहा 'कूचा तेरा।'

कब तलक ये फेरी-फाके मस्ती ?'

'जाने मन दीदार तक।'

4.7 पद्‌मावत की प्रेम पद्‌धति

जब इश्क मजाजी इश्क हकीकी में परिणत हो जाता है, तब साधक आत्मानन्द पाता है, वह ध्यान द्वारा ईश्वरीय सौन्दर्य पर विस्मय-विमुग्ध होता हुआ चरम साक्षात्कार के लिए प्रयत्नशील रहता है। एक ऐसी स्थिति आती है जब कि प्रेमी स्वयम प्रेमरूप हो जाता है। प्रेम एक ऐसी रागिनी छेड़ देता है जिसके प्रभाव से प्रेमी का सम्पूर्ण व्यक्तित्व प्रेममय हो जाता है-

'वरऊदे दिलम नवाख्त यक ज़मजमा इश्क।

जाँ जमजमाँ अमजे पाए ता सर हम इश्क।।'

सूफियों की रति में माधुर्य के साथ-साथ मादक भाव भी रहता है, परन्तु उसमें निहित वासना को पवित्र वासना ही कहना उचित है, क्योंकि ईश्वरीय रति का आनन्द नित्य और शान्तिप्रद होता है। पूर्वाङ्कित पंक्तियों में कहा जा चुका है कि ईश्वर से प्रेम करना, उसकी प्रेमानुभूति द्वारा उसका साक्षात्कार एवं उसकी सत्ता में अपनी सत्ता का विलयन ही सूफी-साधना का चरम उद्देश्य है। साधक की उत्कट प्रेमानुभूति अनिर्वचनीय होती है। उसकी अभिव्यक्ति अत्यन्त कठिन है। यही कारण है कि सूफी कवि प्रायः प्रतीकों या रूपकों का माध्यम ग्रहण करते हैं। सुनाई, फरीदुद्दीन अत्तार, रूमी, फिरदीसी निजामी, उमर खैयाम हाफिज, जामी आदि सूफी कवियों ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए प्रतीकों, संकेतों और तर्कों का आश्रय लिया है। उसका प्रेम इतना घना है कि जब कोई आकर कह देता था कि मैंने यूसूफ को देखा है तो वह उसे अपने गले का हार दे देती थी। उसके पास सत्तर हीरे थे। धीरे-धीरे इसी प्रकार देते सब चुक गए। वह यूसुफ को याद किया करती थी। उसे तारों में यूसुफ का नाम दिखाई देता था। विवाह के पश्चात् उसके प्रेम में अधिक घनत्व आ गया था। उसने यूसुफ के साथ रहने से इनकार कर दिया। उसने यूसुफ से कहा- 'मैं तुमसे उस समय तक प्रेम करती थी जब तक ईश्वर को नहीं जानती थी। अब ईश्वरीय प्रेम मेरे हृदय में व्याप्त हो उठा है, उस स्थान में अब मैं ईश्वर के अतिरिक्त किसी को नहीं रख सकती [१]। इसी प्रकार की एक और कथा अलगज्जाली ने दी है, मजनूं लैला के प्रेम में पागल हो गया। जब कोई उससे उसका नाम पूछता तब वह कहता था- 'लैला'। यह पूछने पर कि 'क्या लैला मर गई।' वह उत्तर देता था- लैला मेरे हृदय में है, मैं लैला हूँ। उसकी मृत्यु नहीं हुई है। 'एक दिन जब वह लैला के घर के पास से जा रहा था, तब किसी ने कहा कि 'तुम आकाश की ओर न देखो। लैला के घर की दीवालों की ओर देखो। शाज वह दिखाई पड़ जाय।' मजनूं ने उत्तर दिया- 'मैं तो आकाश के उन तारों से ही सन्तुष्ट है जिनका प्रतिबिम्ब लैला के घर

पर पड़ रहा है।' और यही कारण है कि मजूं 'लैला' में ही खुदा का 'नूर' देखता था। ख्वाजा मुईनुद्दीन चिश्ती ने कहा है- 'ऐ मुईन ! अक्ल की आँख से दोस्त का हुस्न न देख। तू मजनूं की आँख से लैला के हुस्न को देख।"

स्पष्ट है कि लौकिक प्रेम जब उच्च, पवित्र और व्यापक भाव भूमि पर पहुँच जाता है, तब वह ईश्वरीय प्रेम में परिणत हो जाता है। भारतवर्ष का सूफी काव्य भी इसी प्रकार की विचारधारा से आप्लावित है।

इस्लाम के इतिहास से ज्ञात होता है कि हसन की मृत्यु के पश्चात् सूफीमतवाद के प्रेम-प्रवाह की मनोमुग्धकारी तरंगों में समस्त मुस्लिम संसार तरंगित होने लगा।

इस प्रेम धारा को प्रवाहित करने का श्रेय बहुलंश में राबिया तथा उसकी सहेलियों को है, साथ ही मंजूर को भी। तत्कालीन अन्य सूफी संतो ने इस कार्य में महत्वपूर्ण योग दिया। राधा, मीरा तथा अंदाल के सदृश राबिया तथा उसकी सहेलियाँ अपने को अल्लाह की दुलहिन समझती थी। राबिया कहती है-

'हे नाथ ! तारे चमक रहे हैं। लोगों की आँखें मुँद चुकी है। सम्राटों के द्वारा की अर्गलाएँ बन्द है। प्रत्येक प्रेमी अपने प्रिया के साथ एकान्त सेवन कर रहा है और मैं यहाँ अकेली साथ हूँ [१] ।' उसने निर्देश किया है, 'हे नाथ ! मैं तुमसे द्विधा प्रेम करती हूँ। एक तो यह मेरा परमार्थ है कि आप मेरे परदे को मेरी आँखों से हटा देते हैं ताकि मैं आपका साक्षात्कार करके आपकी सुरति में निमग्न रहूँ। किसी भी दशा में उसका श्रेय मुझे नहीं मिल सकता। यह तो आपकी कृपाकोर का प्रसाद ।

अन्य सूफी कवियों के सदृश राबिया भी रसूल की प्रार्थना करती है। 'हे रसूल, भला ऐसा कौन-सा प्राणी होगा, जिसे आप प्रिय न हों, पर मेरी तो दशा ही कुछ और है। - - - - उसमें उसके अतिरिक्त किसी और के लिए स्थान ही नहीं है ।' इन संत महिलाओं तथा मंसूर आदि के समय में सूफीमत अपनी प्रारम्भिक अवस्था में था। फिर भी इनकी रचनाओं तथा वाणियों में अल्लाह के पुनीत प्रेम के दर्शन होते हैं। पं. चन्द्रबली पांडेय का कथन है कि कबीर आदि साधकों की तरह सूफी संत महिलायें भी अपने को अल्लाह की बहुरिया मानकर अपने प्रणय निवेदन को उस तक निवेदित करना चाहती थीं। सूफियों का परम प्रिय से प्रेम मीरा और अन्दाल की भाँति है। मीरा को गिरधरगोपाल के प्रेम में लोक-लाज खोनी पड़ी और संत मत में आ जाने के कारण कुछ अधिक स्वच्छन्द होना पड़ा। देवदासी अन्दाल माधव- मूर्ति पर आसक्त थी। वह कृष्ण के प्रणय की प्यासी थी। कहा जाता है कि अन्त में मीरा की ही तरह वह उसी में समा गई।

भगवान श्रीकृष्ण ने उसके प्रणय को स्वीकार किया। यहाँ पर यह कथन असंगत न होगा कि मीरा पर सूफी प्रभाव पड़ा है। इसी प्रबन्ध में अन्यत्र यह सप्रमाण सिद्ध किया गया है। वस्तुतः सूफियों के अनुसार सौंदर्य वह है जो वास्तव में प्रेम को जन्म देता है अतः आत्मा सांसारिक सौन्दर्य से गुजरते हुए सर्वोत्तम की ओर झुक जाती है। वही ईश्वरीय सौंदर्य है। यही संसार के सौन्दर्य का कारण है। पूर्ण सौन्दर्य ईश्वर में है। अतः वह सच्चे प्रेम का अधिकारी है ।

4.8 पाठांश

चढ़ा आसाढ़ गंगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा।।
धूम स्याम धौरे घन धाए। सेत धुजा बगु पांति देखाए।।
खरग बीज चमकै चहुं ओरा। बुंद बान बरिसै घन घोरा।।
अद्रा लाग बीज भुइं लेई। मोहि पिय बिनु को आदर देई।।
ओनै घटा आई चहुं फेरी। कंत उबारु मदन हौं घेरी।।
दादूर मोर कोकिला पीऊ। करहिं बेझ घट रहै न जीऊ।।
पुख नछत्र सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नांह मंदिर को छावा।।
जिन्ह घर कंता ते सुखी तिन्ह गारौ तिन्ह गर्ब।।
कंत पियारा बाहिरें हम सुख भूला सर्ब।। 15 / 4

प्रसंग

भक्तिकालीन काव्य की निर्गुण धारा में सूफी काव्य परंपरा के कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने हिंदी साहित्य में प्रेम परक काव्य रचना कर भक्ति के मार्ग को प्रशस्त किया । अवतरित पद्यांश जायसी द्वारा रचित ग्रंथ 'पद्मावत' के 'नागमति वियोग खंड' के अंश हैं । इस खंड में जायसी ने नागमती की विरहावस्था का बड़ा ही मार्मिक चित्रण प्रस्तुत किया है । इस खंड के कुछ पद्यांशों की व्याख्या यहां दी जा रही है।

इस छंद (पद) से परम्परानुसार आषाढ़ माह से आरम्भकर क्रम-क्रम से बारह महीनों और वर्षा के दस नक्षत्रों की अवधि में उद्दीपन प्रकृति के परिवेश में नागमती के विरहजन्य दुःखों का कवि ने वर्णन प्रस्तुत किया है। संयोग की सारी सुखात्मक स्थितियाँ विपरीत स्वरूप ग्रहण कर दुखात्मक हो जाती हैं। सुखात्मक उद्दीपन दुखात्मक हो जाते हैं। विरहिणी रानी नागमती का आत्मकथन है कि वर्षा ऋतु का आगमन होने वाला है। आषाढ़ का महीना चढ़ चुका है (आरम्भ होने का तात्पर्यनही हैं, क्योंकि प्रायः आषाढ़ के अंत में वर्षा आरम्भ होती है) और आकाश में वर्षा के बादल

गरजने लगते हैं। विरहरूपी शत्रु ने लड़ने के लिए (बाजा) युद्ध (द्वन्द्व) की सेना (दल) अर्थात् बादल सजा ली है। आक्रामक सेना तुरही बजाकर चलती है। (बाजा-श्लेष)। बादल गरजते हैं। वही बाजा या तुरही है। तात्पर्य यह कि बादल देखकर उसके दुःख बढ़ जाते हैं। तुलसी ने भी लिखा है- 'घन घमंड गरजत नभ घोरा। प्रियाहीन डरपत मन मोरा।' आकाश में धूमिल, काले और श्वेत बादल (विभिन्न प्रकार की सेनाओं की भाँति) इधर उधर दौड़ रहे है। उनके बीच प्रसन्न भाव से श्वेत बगुलों की पंक्ति उड़ रही है। वह मानों शत्रु की सेना की विजय पताका है। शस्त्र की भाँति विद्युत रूपी तलवार चमक रही है, मानो विरहरूपी शत्रु इसी से मुझ पर प्रहार करेगा(उत्प्रेक्षा)। वर्षा की बूँदे इतनी प्रबल हैं मानो विरहरूपी शत्रु मेरे ऊपर घनघोर बाण छोड़ रहा है (उत्प्रेक्षा)। आर्द्रा में घनघोर पहली वर्षा हुई, यानी अधिक होने से खेतों में लेई लग गई है(मिट्टी पानी को मथकर लेवा लगाते हैं और धान का बीज डालते हैं)। ऐसे में प्रियतम बिना मुझे कौन सम्मान देगा आर्थात् रक्षा करेगा। चारों ओर से काली घटाएँ घिर आई हैं। ऐसे में हे प्रियतम !आकर मुझे बचाओ। मैं कामदेव अर्थात् विरहजन्य प्रेमपीड़ा से भर गई हैं। काम बाहर से नहीं घेरेगा। भीतर से भावनाओं को त्रस्त करेगा। (घेरो-दुःखदायी)। मेढक, मोर, कोयल अपनी-अपनी बोली में अपने प्रिय से संलाप कर रहे हैं। उनकी बोली सुनकर मुझ पर बिजली गिर पड़ती है (अधिक दुःखी हो जाती हूँ) मानों मेरे शरीर में प्राण नहीं रहेगा(उत्प्रेक्षा-मरणदशा की अनुभूति)। पुष्य नक्षत्र या चिरैया नक्षत्र (श्रावण कृष्ण) का समय आ गया है। मैं पति विहीन हूँ। मेरा मन्दिर (झोंपड़ी) कौन छाएगा, नबाएगा। सावन में वर्षा अधिक होती है। छप्पर चूने लगती है। इस गौरवान्वित हैं और मानिनी की भाँति गर्व का अनुभव करती है। मेरा कंत (पति) परदेस में है। अतः मैं संयोग जीवन के समस्त सुखों से वंचित हो गई हूँ, मानों सुखों को विस्मृत कर चुकी हूँ। सूक्ष्मदर्शी कवि ने ग्रामीण सन्दर्भ में नक्षत्रों की विशेषताओं का सूक्ष्मता के साथ वर्णन किया है। नागमती चित्तौड़ किले की रानी नहीं, अवध के गाँव के परदेसी किसान की पत्नी प्रतीत होती है।

विशेष

1. जायसी के वियोग- वर्णन की यह विशेषता ही कही जाएगी कि उनकी नागमती अपने रानीपन को भूलकर किसी सामान्य नारी की भाँति यह कहकर बिषाद्मग्न हो उठती है कि इस घोर वर्षा-काल में, पति की अनुपस्थिति में मेरे भवन पर कौन छप्पर डालेगा।

2. सांगरूपक अलंकार।

सावन बरिस मेह अति पानी। भरनि भरइ हौं बिरह झुरानी।।
लागु पुनर्बसु पीउ न देखा। भै बाउरि कहं कंत सरेखा।।
रकत क आंसु परे भुइं टूटी। रेंगि चली जनु बीर बहूटी।।
सखिन्ह रचा पिउ सिंग हिंडोला। हरियर भुइं कुसुंभि तन चोला।।
हिय हिंडोल जस डोलै मोरा। बिरह झुलावै देइ झंकोरा।।
बाट असूझ अथाह गंभीरा। जिउ बाउर भा भवै भंभीरा।।
जग जल बूड़ि जहाँ लगि ताकी। मोर नाव खेवक बिनु थाकी।।
परबत समुंद अगम बिच बन बेहड़ घन ढंख।।
किमि करि भेटौं कंत तोहि ना मोहि पांव न पंख।। / 15/5

प्रसंग

आलोच्य पद्यांश में कवि जायसी ने नागमती के विरह को बारहमासा वर्णन के द्वारा प्रस्तुत किया है। कवि कहता है कि-

व्याख्या

विरहिणी नागमती आत्म निवेदन में कहती है कि सावन के महीने में मेघ अत्यन्त वर्षा कर रहे हैं। चारों ओर जलाशय भर गए हैं, किन्तु वह विरह से सूख रही है (विरोधाभास)। पुनर्वसु नक्षत्र (आषाढ़ शुक्ल) भी आ गया है, किन्तु प्रियतम नहीं आया। बादल, वर्षा, नक्षत्र सब अ रहे हैं, वह नहीं आया। उसके अभाव में मैं बावली (उन्मादग्रस्त) बनती जा रही हूँ (उन्माद दशा)। प्रेम क्रीड़ा में चतुर मेरा प्रिय कहाँ है। पुनर्वसु लौटकर आने और बसने और चातुर्मास करने का संकेत देता है (चिंता दशा), किन्तु प्रिय नहीं आया। आँख से अब रोते-रोते आँसू के बदले रक्त गिरने लगे हैं। ये आँसू पृथ्वी पर ऐसे दिखाई पड़ते हैं, मानो बरसात में रेगने वाला लाल कीड़ा (हाथी) (उत्प्रेक्षा), फारसी प्रयोग है। सभी सखियाँ हिंडोला (झूला) डालकर अपने-अपने पतियों के साथ झूल रही हैं और सावन का आनन्द ले रही हैं। भारत में वर्षा में झूला झूलने का रिवाज है। चारों ओर पृथ्वी पेड़ पौधों से हरीभरी हो गई है। सखियाँ लाल रंग (प्रेम और आनन्द का रंग) का वस्त्र पहनकर आनन्द उत्सव मना रही हैं। सखियों को झूलते हुए देखकर मेरा मन झूले की भाँति ऊपर-नीचेहो रहा है। धड़कन बढ़ रही है (अभिलाषा, उद्वेग दशा)। ऐसे में विरह की स्थिति मुझे बेचैन कर रही है (इधर उधर झुलाती है।) चारों ओर खेतों में जल भर गया

है। रास्ते पानी में डूब गए हैं। मार्ग अदृश्य हो गया है। जी पागल सा हो रहा है (उन्माद दशा)। जिस प्रकार बेचैन पतंगा दीपक के चारों ओर चक्कर काटता है, वैसे ही मेरा मन प्रियतम की स्मृति में उनके समीप चक्कर काट रहा है , पर कुछ हासिल नहीं कर पा रहा है। जहाँ तक देख पा रही हूँ सारा संसार जल में डूबा हुआ है। ऐसे में मेरी नौका (जीवन) खेवनहार (प्रियतम) के बिना स्थिर हो गई है, गतिहीन हो गई है (मृत्युतुल्य)। हे प्रियतम !तुम न जाने किस परदेस में हो। उस पथ में अनेक पर्वत, अथाह समुद्र, भयानक सघन जंगल हैं। मैं दुर्बलता के कारण चलने में असमर्थ हो गई हूँ। मेरे पास पक्षी के पंख भी नहीं है कि उड़कर आ जाऊँ।

टिप्पणीः- पुनर्वसु अषाढ़ का नक्षत्र है। यहाँ सावन का विरह वर्णन है। अतः कवि को पुष्य(चिरैया) नक्षत्र लिखना चाहिए था। यह लेखन दोषमात्र है। कवि को सबकी जानकारी है। इस पद में उन्माद , व्याधि, उद्वेग विरह दशाओं का वर्णन है।

विशेष-

1. दोहे में व्यक्त विरह-भाव बड़ा ही मार्मिक और करुणोत्तेजक है।
2. 'हिय...मोरा' में उपमा अलंकार।
3. 'मोर....थकी' में रूपक अलंकार।

भर भादौं दूभर अति भारी। कैसें भरौं रैनि अंधियारी।।
मंदिल सून पिय अनतै बसा। सेज नाग भै धै धै डासा।।
रहौं अकेलि गहें एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी
चमकि बीज घन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा।।
बरिसै मघा झंकोरि झंकोरी। मोर दुइ नैन चुवहिं जसि ओरी।।
पुरबा लाग पुहुमि जल पुरी। आक जवास भई हौं झूरी।।
धनि सूखी भर भादौं माहां। अबहूं आइ न सींचिति नाहां।।
जल थल भरे अपूरि सब गंगन धरति मिलि एक।
धनि जोबन औगाह महं दे बूड़त पिय टेक।। 15/6

प्रसंग

नागमती वर्षा ऋतु के आने पर अपने प्रियतम को याद करती है। विरह में उसकी दशा दिन-प्रतिदिन बुरी होती जा रही है। वर्षा ऋतु उसकी विरह दशा को और बढ़ा देती है। यथा-

व्याख्या

विरहिणी नागमती आत्मकथन में भादों मास के उद्दीपन तथा अनुभवों का वर्णन कर रही है। घनघोर वर्षा का महीना भादों व्यतीत करना मेरे लिए अत्यन्त कठिन हो गया है। प्रियतम के बिना घनी अंधेरी रात काटना उत्यन्त कठिन प्रतीत हो रहा है। मेरा घर सूना है। प्रिय अन्यत्र जा बसा है। सेज रूपी नागिन प्रियतम के अभाव में विष (मृत्यु) के समान दुखदायी हो गई है। सेज पर प्रिय का स्मरण हो आता है और दुःख बढ़ जाता है (रूपक)। वेदना से पीड़ित शैया से उत्तर सारी रात बैठकर बिताती हूँ। यहाँ सोकर पाटी पकड़ना समीचीन नहीं है। चिंतावश दुखद सेज से उठ बैठकर बिताती हूँ। सारी रात बैठकर बिताती है। नीद नहीं आती। नैन खुले हैं। चिंतावश हृदय फटा जा रहा है (अतिशयोक्ति)। उद्वेगदशा का वर्णन है। मरण का भी उल्लेख है- मरौं हिय फाटी। आकाश में घिरे हुए काले बादल गरजते हैं। अकेली होने से भय (तरास) लगता है। बिजली भी चमक रही है। विरह रूपी काल मेरे प्राण को मानो ग्रास (कौर) बना रहा है। खा जाना चाहता है (मृत्युबोध)। सब फारसी प्रभाव की कविता है। मघा नक्षत्र (भाद्र कृष्ण) का समय आ गया है। प्रचण्ड वर्षा हो रही है। विरह वेदना से मेरी आँखों से अनवरत आँसू गिर रहे हैं मानो खपरैल के मकान की ओरी चू रही है। सतत पानी गिर रहा है। यह कायिक अनुभाव है। भादों का महीना जल से भरा हुआ है। सबकुछ रहा है, किन्तु विरहताप से वियोगिनी सूख रही है (विरोधाभास)। इतनी भारी वर्षा में भी प्रियतम नहीं आए और आकर मुझे आप्लावित नहीं किया, सींचा नहीं। सुखी नहीं किया (उपालंभ भाव)। अब पूर्वा नक्षत्र (भाद्र शुक्ल) का सम आ गया है। धरती जल से भरी हुई है। आक और जवास के कटीले पौधे (झाड़ी) होते हैं। इन्हें ऊँट खाते हैं। गर्मी में या रेगिस्तान में खूब पल्लवित होते हैं। हरे भरे। ज्योंही पानी बरसता है, ये सूख जाते हैं, अर्थात् वर्षा में सूखते हैं। उसी प्रकार नागमती भी सूख गई है (दृष्टांत)। धरती पर चारों ओर ऐसा जल भरा हुआ है कि सब एकाकार हो गया है, ऊपर बादलों का जल है। अतः ऊपर से नीचे तक जल ही जल है। मैं यौवन के मध्य में हूँ। नवोढ़ा नायिका है। कामवासना और विरह सागर में डूब रही हूँ। कहीं डूबकर मेरी मृत्यू न हो जाए। हे प्रियतम ! शीघ्र आओ और मेरी रक्षा करो। अभिलाषा, चिंता, उद्वेग की विरह दशाएँ वर्णित है।

विशेष

1. वर्षा-ऋतु में आक और जवासे के पत्रहीने हो जाने का अर्थात सूखने का वर्णन गोस्वामी तुलसीदास ने भी किया है।

   "अर्क जवास पात बिन भयऊ।"

2. पुरुक्ति, विरोधाभास अलंकार।

लाग कुआर नीर जग घटा। अबहुं आउ पिउ परभुमि लटा।
तोहि देखे पिउ पलुहै काया। उतरा चित्त फेरि करु माया।।
उए अगस्ति हस्ति घन गाजा। तुरै पलानि चढ़े रन राजा।।
चित्रा मिंत मीन घर आवा। कोकिल पीउ पुकारत पावा।।
स्वाति बुंद चातिक मुख परे। सीप समुंद्र मोंति लै भरे।।
सरवर संवहि हंस चलि आए। सारस कुररहिं खंजन देखाए।।
भए अवगास कास बन फूले। कंत न फिरे बिदेसहि भूले।।
बिरह हस्ति तन सालै खाइ करै तन चूर।
बेगि आइ पिय बाजहु गाजहु होइ सदूर।। 15 /7

प्रसंग

आलोच्य पद्यांश में कवि ने कुवार के महीने में विरहिणी नागमती की हृदयगत भावनाओं को अभिव्यक्त किया है। कवि कहता है कि-

व्याख्या

विरहिणी नागमती का आत्मकथन चल रहा है। कुवार (शरद ऋतु का आरम्भ) का महीना लग गया है। वर्षा वृद्ध हो गई है। चारों ओर जल घट रहा है। इसी माह में राजा, सेनापति , व्यापारी अपनी नई यात्रा आरम्भ करते थे। प्रकृति में शरद का विकास हो रहा है। उसके विपरीत मैं दुर्बल होकर विरह के प्रभाव में घट गई हूँ, अत्यन्त क्षीण हो गई हूँ (विरोधाभास)। प्रियतम को संबोधित कर आने का निवेदन कर रही है (स्मरण)। विरह की अधीरता दशा का वर्णन है। तुमको देखकर मेरा शरीर हरा भरा या प्रसन्न हो उठेगा। विरह का कष्ट दूर हो जाएगा। सबसे बड़ा प्रियमिलन सुख प्राप्त होगा। मैं तुम्हारे चित्त से उतर गई थी। मुहावरे में उपेक्षाभाव होता है। (सम्भव है हीरामन सुग्गो को मारने के लिए दासी को आदेश देने के कारण राजा ने उपेक्षा की हो- चित्त से उतार दिया हो, जिससे वह दुखी है।) अब पुनः कृपा (माता-ममता) दिखाने का अनुरोध कर रही है। उतरा चित्त का लोक व्यवहार में मन टूटना भी होता है अर्थात्

नागमती का मन दुखी है, अब तो दया करो। काव्यखण्ड में नक्षत्र सम्बन्धी व्याख्या दे दी गई है। चित्रा नक्षत्र (कार्तिक कृष्ण) का समय हो रहा है। उसका मित्र चन्द्रमा (मेघ हटने से चन्द्रमा दिखाई पड़ता है) मीन राशि में आ गया है। मीन कामदेव का वाहन है। क्वार कार्तिक में मछली को स्वच्छ जल मिलता हैष शरद ऋतु में काम वासना का वेग बढ़ रहा है। उधर स्वाति नक्षत्र के जल के लिए पपीहा अभी से 'पी-पी' पुकार कर मेरे मन में तुम्हारी स्मृति को बढ़ा रहा है। अगस्त तारा आकाश में दिखाई पड़ने लगता है। इसी महीने आगस्त का सफेद फूल भी पौधों में लग जाता है। अगस्त में श्लेष अलंकार है। हस्ति नक्षत्र (आश्विन शुक्ल) का समय हो गया है। उसके बादल आकाश में खूब गरज रहे हैं। हथिया में फुफकार कर वर्षा होती है। वर्षा बन्द होने पर राजा लोग घोड़ों पर जीन या साज कसकर सणक्षेत्र में जाने की तैयारी कर रहे हैं। चारों ओर गतिविधि है। तुम भी आओ। स्वाति नक्षत्र (कार्तिक शुक्ल) का समय आ गया है। चातक पक्षी के मुख में स्वाति की अमृत बूँदे पड़ चकी है। उसकी आकांक्षा पूरी हो चुकी है. स्वाति की बूँदे समुद्र स्थित सीपी में मोती बन चुकी हैं। जलाशयों को स्मरण कर हंस भी क्रीड़ा करने के लिए आ चुके हैं। सारस (क्रौंच) पक्षी अपने जोड़े में क्रीड़ा कर रहा है। सुखानुभूति कर रहा है। खंजन पक्षी भी गर्मी कम होने से आ चुके हैं। वर्षा का बादल हट जाने से अब रात में भी प्रकाश होने लगा है या सफेद फूल लग गए हैं, किन्तु हमारा प्रियतम अभी तक नहीं आया। परदेस में किसी नागरी, प्रेमकीड़ा मेंचतुर नायिका के प्रेम में भूला हुआ है। विरह रूपी हाथी मेरे शरीर को कुचल रहा है। चित्त या मन को घायल कर चूर-चूर (अधिक दुखी) कर रहा है। हे प्रियतम !ऐसे में शीघ्र लौटकर आओ और सिंह बनकर गरजकर उससे लड़ो और परास्त करो अर्थात् प्रिय के आने पर दुखदायी विरह स्वतः समाप्त हो जाएगा (श्लेष, रूपक)। चिंता, स्मृति विरह दशाओं का वर्णन किया गया है।

विशेष

सांगरूपक अलंकार, रूपक अलंकार ।

कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल हौं बिरहैं जारी।।
चौदह करा कीन्ह परगासू। जानहुं जरें सब धरति अकासू।।
तन मन सेज करै अगिदाहू। सब कहं चांद मोहिं होइ राहू।।
अबहूं निठुर आव एहिं बारा। परब देवारी होइ संसारा।।
सखि झूमक गावहिं अंग मोरी। हौं झूरौं बिछुरी जेहि जोरी।।

जेहि घर पिउ सो मुनिवरा पूजा। मो कहं बिरह सवति दुख दूजा।।
सखि मानहिं तेवहार सब गाइ देवारी खेलि।
हौं का खेलौं कंत बिनु तेहिं रही छार सिर मेलि।। 15/8

प्रसंग

प्रस्तुत पद्यांश में कवि ने कार्तिक मास में नागमती के विरह का वर्णन किया गया है।

व्याख्या

आत्म निवेदन करते हुए कार्तिक महीने के उद्दीपन तथा वाचिक एवं कायिक अनुभावों का वर्णन करते हुए नागमती कहती है कि शरद ऋतु के प्रतिष्ठित हो जाने से कार्तिक महीने का स्वच्छ चन्द्रमा उगा है। चारों ओर रात में उजेला है। शीतल, मंद हवा चल रही है। ऋतु सुहानी है. सारा संसार ग्रीष्मताप कम होने से शीतल है, किन्तु विरह में प्रतिकूल उद्दीपन से मैं विरह ताप से जल रही हूँ (विरोधाभास)। चन्द्रमा अपनी सम्पूर्ण कला के साथ पूर्णिमा को प्रकाशित हो रहा है। मेरे लिए सारी धरती और आकाश जल रहा है। सुखात्मक प्रकृति दुखात्मक हो गई है (विरोधाभास)। तन, मन और सेज तीनों को मानो विरह अग्नि जला रही है अथवा घर की सेज प्रिय के बिना शरीर और मन को अधिक दुखी कर रही है। जलाने का तात्पर्य विरह वेदना है। सारे संसार के लिए सुखद चन्द्रमा मेरे लिए मानो संकट बढ़ाने वाला राहु बन गया है (उत्प्रेक्षा)। कामवर्धक चन्द्रमा वागमती के हृदय में कामोद्दीपन कर अधिक दुखी बना रहा है। मान्यता के अनुसार ग्रहण के समय सूर्य-चन्द्रमा को ग्रसित कर उनका दुःख बड़ाने वाला काला कलुषित राहु माना जाता है। प्रिय कंत के घर पर साथ न रहने के कारण चारों दिशाएँ अंधेरी- दुखदायी प्रतीत होती है। अब दीपावली का पर्व आ चुका है। अतः हे निष्ठुर प्रियतम ! अब तो वापस मेरे पास आओ। यह आत्मनिवेदन है। हमारी सभी अनुकूलपतिका सखियाँ दीपावली पर्व पर अंग मोड़कर अर्थात् गीत नृत्य के साथ दीपावली के अनुकूल झूमक गीत गाकर उल्लास प्रकट कर रही हैं। इस महीने में गावों शहरों में लोकगीत और विरहा का दंगल होता है. इसके विपरीत मैं जोड़ी बिछड़ जाने से अत्यन्त दुखी हूँ। सूखती चली जा रही हूँ (दुर्बलता)। जिसके घर प्रिय हैं उन स्त्रियों के सारे मनोरथ पूर्ण हो जाते हैं, किन्तु नागमती के लिए ऐसे में दो प्रकार के दुःख हैं, एक तो प्रिय के जाने से विरह दुःख हुआ है, दूसरे पराई स्त्री के कारण सौत का दुःख। सौत का दुःख बड़ा होता है। विरह तो कुछ समय बाद समाप्त हो जाएगा, पर सौत तो सदा के लिए सिर पर बैठ जाएगी। अतः वह अत्यन्त दुखी है। मनोरथ का अन्य सन्दर्भ

काव्यखंड के शब्दार्थ के साथ दिया गाय है। सखियाँ दीपावली का पर्व मना रही हैं, महाभारतकालीन परम्परा के अनुसार जुआ का खेल भी खेलती हैं। आनन्दानुभूति कर रही है। प्रिय के साथ हार-जीत कर रही हैं। मैं कंत के बिना वियोग की स्थिति में कैसे कोई गीत गा सकती हूँ, कैसे उत्सव मना सकती हूँ या लोकगीत के दंगल में भागीदारी कर सकती हूँ। मैं तो सिरे पर पुष्प या प्रसाधन रखने के बदले केवल राख या धूल ही रख सकती हूँ। मुहावरे में अफसोस कर सकती हूँ। (कार्तिक पूर्णिमा पर स्त्रियाँ सप्तर्षियों की पूजा करती हैं। राजस्थान के पुष्कर में स्नान और ब्रह्या उपासना का महीना है।) शब्दार्थ अंश में मुनिवरा का विवरण दिया गया है (विरोधाभास, उत्प्रेक्षा)।

विशेष

उत्प्रेक्षा, उपमा अलंकार।

आगहन देवस घटा निसि बाढ़ी। दूभर दुख सो जाइ किमि काढ़ी।।
अब धनि देवस बिरह भा राती। जरै बिरह ज्यों दीपक बाती।
कांपा हिया जनावा सीऊ। तौ पै जाइ होइ संग पीऊ।।
घर घर चीर रचा सब काहूं। मोर रूप रंग लै गा नाहूं।।
पलटि न बहुरा गा जो बिछोई। अबहुं फिरै फिरै रंग सोई।।
सियरि अगिनि बिरहिनि हिय जारा। सुलगि सुलगि दगधै भै छारा।।
यह दुख दगध न जानै कंतू। जोबन जरम करै भसमंतू।।
पिय सौं कहेहू संदेसरा ऐ भंवरा ऐ काग।
सो धनि बिरहें जरि गई तेहिक धुआं हम लाग ।।15/9

प्रसंग

आलोच्य पद्यांश में जायसी ने नागमती की विरहाकुल मनोव्याथा का बड़ा ही मार्मिक चित्र प्रस्तुत किया है। कवि कहता है कि-

व्याख्या

आत्म निवेदन में अगहन महीने (हेमंत का पहला महीना) के उद्दीपन और वियोगजन्य अनुभावों का वर्णन करते हुए नागमती कहती है कि अगहन का महीना आ गया। सूर्य दक्षिणायन होने लगा है। दिन घट रहा है और रात बड़ी होने लगी है। मेरे लिए रात बिताना कठिन हो रहा है। यह दुखदाई (गाढ़ी) रात मैं कैसे बिताऊँ ? अब तो मेरे लिए विरह में रात के समान दिन बी हो गया है। गितविधि होने पर भी दिन नहीं

कटता। जैसे दिन वैसे रात। जिस प्रकार दीपक में तिलतिल कर सारी रात बत्ती जलती रहती है, उसी प्रकार विरह में मैं भी तिलतिल कर जल रही हूँ।

जब रात में शीत बढ़ता है, तब हृदय विरह और शीत के प्रकोप से काँप उठता है। यह सब दुःख दूर हो सकता है, यदि प्रिय शीघ्र लौट आए। जाड़े का समय आ चुका है। समय के अनुरूप सभी स्त्रियाँ नए-नए वस्त्र पहन रही हैं, किन्तु मेरे रूप और आनन्द को लेकर प्रिय परदेस चला गया है। मेरा बिछुड़ा पति एक बार गया तो इतना समय बीतने पर भी लौटकर नहीं आया। यदि वह अब भी वापस आ जाए तो मेरा रंग (आनन्द) पुनः मुझे प्राप्त हो सकता है। विरहिणी नागमती यहाँ विरहाग्नि की तुलना वज्राग्नि (अविजित) से कर रही है, जिसका कोई उपचार नहीं है। वह आग मेरे हृदय को जला रही है और वह सुलगकर धीरे-धीरे क्षार (राख) हो रहा है, अर्थात् नष्ट हो रहा है। यह दाह और उसका दुःख मेरा कंत नहीं जानता। अपने परदेस गमन से वह मेरे यौवन तथा जीवन दोनों को नष्ट कर रहा है- दुखी बना रहा है। हे भौरा और हे कौवा !!तुम लोग उड़नेवाले हो, कही भी जा सकते हो, अतः मेरे प्रिय के पास जावो और उससे मेरा संदेश कहो कि तुम्हरी विरहिणी स्त्री जलकर मर गई। जब वह प्रमाण माँगे तो कहना कि उसकी चिता का धुआँ लगने से हम लोग काले हो गए हैं (उत्प्रेक्षा, दोहा में काव्यलिंग-ज्ञापक कारणसहित- अलंकार है) इसमें मरण दशा का वर्णन है।

विशेष

1. प्रस्तुत पंक्तियों के अंत में नियोजित दोहे की आचार्य रामचंद्र शुक्ल आदि समीक्षकों ने मुक्त-कंठ से सराहना की है, क्योंकि इसमें विरहिणी नायिका की मनोव्यथा सागर हो उठी है।
2. नागमती के शरीर में लगी विरहाग्नि के धुएँ से भ्रमरों और कागों का काला होना इस तथ्य का व्यंजक है कि वह विरहाग्नि में शीघ्र ही जलकर विरहयातना से छुटकारा नहीं पा गई हैं अपितु लंबे अंतराल तक घुट-घुट कर, सुलग-सुलग कर जलती रहती है। धुंआ तभी तक अधिक निकला करता है जब तक आग भभक कर जल नहीं उठती।
3. विरोधाभास और हेतूत्प्रेक्षा अलंकार।

पूस जाड़ थरथर तन कांपा। सुरुज जड़ाइ लंक दिसि तापा।।
बिरह बाढ़ि भा दारुन सीऊ। कंपि कंपि मरौं लेहि हरि जीऊ।।

कंत कहां हौं लागौं हियरें। पंथ अपार सूझ नहि नियरें।।
सौर सुपेती आवै जूड़ी। जानहूं सेज हिवंचल बूड़ी।।
चकई निसि बिछुरै दिन मिला। हौं निसि बासर बिरह कोकिला।।
रैनि अकेलि साथ नहि सखी। कैसें जिऔ बिछोही पंखी।।
बिरह सैचान भवै तन चांड़ा। जीयत खाइ मुएं नहिं छांड़ा।।
रकत ढरा मांसू गरा हाड़ मए सब पंख।
धनि सारस होइ ररि मई आइ समेटहु पंख।। 15/10

प्रसंग

विगत छंद की भांति प्रस्तुत पंक्तियां भी जायसी के वियोग वर्णन की बड़ी ही मार्मिक पंक्तियां हैं, जिनमें विरहिणी नागमती की पूस के महीने में होने वाली दुर्दशा का वर्णन किया गया है-

व्याख्या

पूस महीने के उद्दीपन और अनुभाव का वर्णन करते हुए विरहिणी नागमती ने आत्मकथन में कहा कि पूस में जाड़ा बढ़ गया है। दुर्बल शरीर थर-थर काँप रहा है। सूर्य मानो जाड़ा से डर कर दक्षिणायन हो दक्षिण दिशा में लेका चला गया है। चंप जाना अर्थात् दब गया है। विरह की वेदना बढ़ गई है और सर्दी (शीतलता) कष्टकर हो गई है। शरीर दुर्बलता , शीतलता तथा सौत स्मरण से बराबर काँपता रहता है (उत्पेक्षा)। वह चिंता और उद्वेग में पूछती है कि प्रिय कहाँ है। मैं उसके पास जाकर हृदय से लगना चाहती हूँ। आलिंगन करना चाहती हूँ। उसके सान्निध्य में शीघ्र पहुँचना चाहती हूँ। किन्तु परदेस का पथ अपार अर्थात् अज्ञात और दूर है। मुझे तो रोते होते आँख की दृष्टि कम हो जाने से निकट की वस्तुएँ ही नहीं दिखाई देती हैं, तब दूर का रास्ता कैसे देख पाऊँगी या परदेस में प्रिय के प्रवास का स्थान निकट नहीं, अत्यन्त दूर और अगम है। तह लगाकर सेज पर बिछायी गयी सफेद चादर ठंज से अधिक शीतल हो गयी है। उसपर बैठते या लेटते मानो मुझे जुड़ी सी होने लगती है। जूड़ी एक प्रकार का ज्वर है। जब उसका वेग बढ़ता है तो ठंड और कंप दोनों बढ़ जाती है। दो चार रजाई ओढ़ने पर भी कंपकपी होती रहती है। सेज इतनी ठंडी हो गई है मानो हिमालय में (बर्फ) में डूब गई है (अतिशयोक्ति)। चकई या क्रौंच या सारस पक्षी प्रकृत्या रात में पृथक् होते हैं, विरहजन्य दुःख का अनुभव करते हैं, किन्तु दिन में वे स्वतः मिलकर, साथ रहकर सुख का अनुभव करते हैं, परन्तु मैं तो दिन रात अर्थात् सतत विरह में जलकर कोयल सी

काली हो गई हूँ और कू-कू करती हूँ। वेदना व्यक्त करती हूँ। रात में अकेली पड़ी हूँ। चिंता कर रही हूँ। साथ में अब सखियाँ भी नहीं रहीं। मैं तो विरहिणी पक्षी के समान हो गई हूँ, पति बिना कैसे जिऊँ अर्थात् जीवन व्यतीत करना कठिन हो गया है (उत्प्रेक्षा) । विरह रूपी बाज पक्षी शरीर रूपी कबूतर को इस जाड़ा में नोचकर खा रहा है। प्रतीत होता यह मर जाने पर मेरे मांस को भी नोच-नोचकर खा जाएगा (जाड़ा में श्लेष, रूपक, अत्यक्ति)। नोचना, मारना आदि इस्लामी या फारसी प्रभाव है। आगे तो मांस जलाकर राख उड़ाई जाएगी। बाज-कबूतर युद्ध का दृष्टांत है। शरीर का सारा रक्त रोते-रोते गिर गया और अब शरीर बिना रक्त का हो गया है- सूखा। मांस भी धीरे-धीरे गल गया है- दुर्बलता। मेरे शरीर की हड्डियाँ सूखकर खंखड़ हो गईं अर्थात् अलग-अलग दिखाई पड़ती है- नरकंकाल (उत्पेक्षा)। हड्डियों की सफेदी बाहर दिखाई नहीं पड़ती, अतः सफेद शंख से उनकी तुलना नहीं हो सकती। स्त्री अर्थात् नागमती रो-रोकर वियोगिनी मादा सारस पक्षी के समान मानो मर गई (उत्पेक्षा)। हे प्रिय ! अब तो मरने के उपरान्त आकर उसके बिखरे हुए पंखों (अंगों) को समेटो, इक्ट्टा करो तथा जीवन दो। आओ और वियोगिनी मादा सारस रूपी नामती के शिथिल पड़े अंगों को नवजीवन प्रदान करो, सुखी बनाओ। इस्लाम में मरने के बाद क्रब में भी जीवन चलता है। वह कयामत तक बना रहता है। शायरों के यहाँ कब्र में मुहब्बत भी होती है, उलाहना भी होता है। माशूक भी कब्र में कभी-कभी सीधे आ जाता है-

आकर हमारी कब्र में जो तुमने मुस्करा दिया,
बिजली चमक के गिर पड़ी सारा कफन जला दिया।

गालिब भी मरने के बाद दुनिया की खोज-खबर और सूचना लेते रहे। कब्र से उठने के बाद उन्होंने शायद कयामत के दिन बताया-

चंद तस्वीरे-बुतां चन्द हसीनों के खतूत,
बाद मरने के मेरे घर से ये सामां निकला । शायरों की तरह सूफियों के यहाँ भी मरने के बाद बहुत कुछ होता रहता है। जायसी भी वक्त-बे-वक्त इसका निवाह करना नहीं भूलते ।

विशेष

1. 'रक्त.....पंख' में व्यक्त मार्मिक विरह की जितनी भी प्रशंसा की जाए कम है।
2. उत्प्रेक्षा, रूपक अलंकार।

लागेउ माघ परै अब पाला। बिरहा काल भएउ जड़काला।।

पहल पहल तन रुई जो झांपै। हहलि हहलि अधिकौ हिय कांपै।।
आइ सूर होइ तपु रे नाहां। तेहि बिनु जाड़ न छूटै माहां।।
एहि मास उपजै रस मूले। तें सो भंवर मोर जोबन फूलू।।
नैन चुवहिं जस मांहुट नीरू। तेहि जल अंग लाग सर चीरू।।
टूटहिं बुंद परहिं जस ओला। बिरह पवन होइ मारै झोला।।
केहिक सिंगार को पहिर पटोरा। गियं नहिं हार रही होइ डोरा।।
तुम्ह बिनु कंता धनि हरुई तन तिनुवर भा डोला।।
तेहि पर बिरह जराइ कै चहै उड़ावा झोला।।15/11

प्रसंग

प्रस्तुत पद्यांश में भी जायसी ने नागमती की विरहावस्था का मार्मिक दृश्य प्रस्तुत किया है-

व्याख्या

माघ शिशिर ऋतु का महीना होता है। विज्ञान के अनुसार घूमती पृथ्वी का दक्षिणी सिरा सूर्य के निकट होता है। ज्योतिर्विज्ञान के अनुसार सूर्य दक्षिणायन चला जाता है। अतः माघ में सर्दी अधिक बढ़ जाती है। आत्मकथन में माघ के उद्दीपन और अनुभाव का वर्णन करते हुए नागमती ने कहा कि माघ लग गया है। पाला पड़ रहा है। पाला अति ठंडी हवा है, जिससे अरहर, मटर, आलू आकि कोमल फसलें रातभर में जीवन शून्य होकर सूख जाती है। सिंचाई होने पर इसका प्रभाव नहीं पड़ता। जाड़े के समय (जड़ काला) में विरह मेरे लिए मृत्यु (काल) बन गया है (उत्पेक्षा, उत्युक्ति)। मैं बचाव में जितना ही शरीर को रूई से ढंककर सर्दी से बचना चाहती हूँ, विरह और प्रेम तथा सात्विक कंप (रोमांच) से उतना ही मेरा हृदय काँपता है- धड़कता है। हे स्वामी ! तुम बसंत के गर्म सूर्य के समान सुखद बनकर मेरे पास आओ और मुझे संयोग तथा प्रेम की गर्मी प्रदान करो। मिलन, स्पर्श, आलिंगन आदि प्रेम क्रीड़ाएँ मेरे दुखों को दूर करेंगी, अन्यथा माघ में तुम्हारे बिना यह जाड़ा (जाड़े का कष्ट) छूटने वाला नहीं। इस महीने में बसंतोत्सव और मदनोत्सव मनाया जाता है। प्रकृति में यौवन का विकास होता है। प्रत्येक प्राणी में कामवासना का संचार होता है। सर्दी कम होने लगती है। मेरा यौवन फूल के समान है, तुम भ्रमर के समान बनकर आओ और ससास्वादन करो।

मेरे नेत्र रातदिन आँसू गिरा रहे हैं, मानो माघ या जाड़े की वर्षा होने पर मघवट वर्षा की ओरी चू रही है (उत्पेक्षा)।माघ की वर्षा के प्रभाव से मेरे कपड़े अधिक शीतल हो गए हैं।

स्पर्श होने पर मानो वे शरीर में तीर से लगते हैं। माघ के महीने की वर्षा में गिरने वाले बर्फ के टुकड़े (ओला) के समान आँसू की बूँदे भी बर्फ के समान हो गई हैं (उपमा)। विरह ठंडी हवा बनकर झोंका मारता है तब कंपकंपी बढ़ जाती है। मदनोत्सव आने पर भी तुम्हारे बिना अब कैसा श्रृंगार, कैसा रेशमी (सुन्दर) वस्त्र ? पिचले मदनोत्सव का स्मरण हो रहा है (स्मरण अलंकार)। मेरे गले में अब हार नहीं है। दुर्बलता से गला डोरा (तागा) बन गया है अर्थात् क्षीण हो गया है।

तुम्हारे बिना मेरा हृदय काँप रहा है। शरीर तिनके के समान हल्का होकर हिलडुल रहा है। उस पर विरह अग्नि के समान बनकर इसे जलाकर , इसकी राख को उड़ा लेना चाहता है (उत्पेक्षा, अतिशयोक्ति)।

विशेष

रूपक, उपमा अलंकार।

फागुन पवन झंकोरै। चौगुन सीउ जाइ किमि सहा।।
तन जस पियर पात भा मोरा। बिरह न रहै पवन होइ झोरा।।
तरिवर झरै झरै बन ढ़ाखा। भइ अनपद्मा फूल फर साखा।।
करिन्ह बनाफति कीन्ह हुलासू। मो कहं भा जग दून उदासू।।
फाग करहि सब चांचरि जोरी। मोहिं जिय लाइ दीन्हि जसि होरी।।
जौं पै पियहि जरत अस भावा। जरत मरत मोहि रोस न आवा।।
रातिहु देवस इहै मन मोरें। लागौं कंत थार जेउं तोरें।।
यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाउ।
मकु तेहि मारग होइ परौं कंत धरै जहं पाउ।।15 / 12

प्रसंग

आलोच्य पद्यांश में कवि ने नागमती की विरह दशा का वर्णन किया है। कवि कहता है कि-

व्याख्या

फागुन के उद्दीपन और अनुभाव का वर्णन करते हुए नागमती कहती है कि फागुन में हवा झकझोर कर चल रही है अर्थात् धूल उड़ानेवाली फगुनहट चल रही है। सूरज डूबते ही शीत चौगुनी बढ़ जाती है। दूसरे सूर्य के उत्तरायण होने से बर्फ भी पिघलती है और ठंड बढ़ जाती है। रात में और प्रातः ठंड नहीं सही जाती। पतझड़ का भी यही समय होता है। पत्ते अपना हरापन छोड़कर पीले (जीवनहीन) हो जाते हैं। पीले पत्ते के समान मेरा

शरीर भी रक्तहीन पीला हो गया है (उपमा)। रुग्ण और दुर्बल शरीर को फगुनहट के रूप में मानो विरह झकझोर रहा है। पतझड़ के कारण एक ओर पेड़ के पत्ते तथा वन के ढाक के पत्ते गिरे रेह हैं, तो दूसरी ओर नए पत्ते, फूल, फल लग रहे हैं। नयापन आ रहा है। पेड़ों की शाखाएँ नए पत्ते, फूल और फल से लदकर झुक गई हैं। सभी वनस्पतियाँ बसंतागमन पर उल्लास का , हरे पत्ते, रंगबिरंगे फूल, विभिन्न प्रकार के फल, पक्षियों का कलरव, समशीतोष्ण जलवायु में आनन्द का अनुभव कर रही हैं। इस सुखात्मक उद्दीपन के विपरीत प्रभाव से मेरे लिए यह संसार दूना उदास हो गया है। एक तो विरह की उदासी, दूसेर प्रकृति के सुख के विपरीत प्रभाव की उदासी (विरोधाभास) बढ़ गई है। चर्चरी या चांचर सामूहिक आनन्दोत्सव का नृत्य सजाकर सभी स्त्रियां फगुआ गीत गा रही हैं और नाच रही हैं। मुझे ऐसा लगता है मानो मेरे शरीर में होलिका जला दी गई हो (उत्पेक्षा)।

यदि इस स्थिति में जलते हुए भी मैं प्रिय को प्राप्त कर लेती तो सारा रोष (अमर्ष या रिस का संचारी भाव) भूल जाती और उनके संयोग से सुख का अनुभव करती। रात दिन मैं यही सोचती हूँ कि हे प्रिय ! यह शरीर तुम्हारे या निहोरा का अर्थ अनुकंपा भी होता है। अब एक कामना बच गई है कि इस शरीर को जलाकर राख कर दूँ और पवन से कहूँ कि इस राख को उड़ा ले चलो। शायद वह राख उस पथ पर उड़कर पड़ जाए, जहाँ मेरा पति आते जाते अपना पैर रखेगा (अभिला, दशा)। भारतीय सामंतवादी पति के चरणस्पर्श से स्त्री धन्य हो जाती है। मरना, जलना, राख होना फारसी परम्परा है।

विशेष

1. चांचरि उस श्रृंगार-प्रधान नृत्य-गान को कहते हैं जिसकी योजना विशेषतः फागुन के महीने में होती हैं।
2. 'तन.....मोरा' में उपना अलंकार।
3. 'लागौं...तोरें' में उपमा अलंकार।
4. दोहे में अभिलाषा-संचारी की बड़ी ही मनोरम व्यंजना की गई है।

चैत बसंता होइ धमारी। मोहि लेखें संसार उजारी।।
पंचम बिरह पंच सर मारै। रकत रोइ सगरौ बन ढारै।।
बूड़ि उठे सब तरिवर पाता। भीज मंजीठ टेसू बन राता।।
मौरैं आंब फरैं अब लागे। अबहुं संवरि घर आउ सभागे।।

सहस भाव फूली बनफती। मधुकर फिरे संवरि मालती।।
मो कहं फूल भए जस कांटे। दिस्टि परत तन लागहिं चांटे।।
भर जोबन एहु नारंग साखा। सोवा बिरह अब जाइ न राखा।।
घिरिनि परेवा आव जस आइ परहु पिय टूटि।
नारि पराएँ हाथ है तुम्ह बिनु पाव न छूटि।।15/13

प्रसंग

प्रस्तुत पद्यांश में कवि नागमती के विरह का वर्णन करते हुए कहता है कि-

व्याख्या

चैत में बसंत ऋतु का आरम्भ माना जाता है। मदनोत्सव की तिथि बसंत पंचमी है। कामरूप (असम) का बिहू नृत्य इस उत्सव का स्मारक है। चैत का उद्दीपन वर्णन करते हुए नागमती कहती है कि चैत के महीने में एक सप्ताह तक धमारी अर्थात् होली का गीत और उल्लास चारों ओर मनाया जा रहा है। बसंत के प्रभाव से प्रकृति और मनुष्य सुखी है, किन्तु मेरे लिए तो संसार ही उजड़ चुका है (विरोधाभास)। कोयल का पंचम राग अर्थात् भारतीय संस्कृति के छः रागों में से पाँचवे राग (तीव्र स्वर) में गाया गया विरह का गीत (कू-कू का गीत) कामदेव के पंचबाण की भाँति हैं जो मेरे हृदय को घायल कर देते हैं और प्रिय का स्मरण कराते हैं। कामवासना उद्दीप्त करते हैं, पर प्रिय के अभाव में मैं दुखी हो जाती हूँ, मानो सारा संसार ही कामदेव के बाण से घायल हो उठा है। चारों ओर लाल फूल ऐसे प्रतीत होते हैं मानो विरहिणी कोयल सारे वनों में रक्त का आँसू गिरा आई है। रक्त में मानो सारे वृक्ष और पत्ते डूब गए हैं। यहाँ लाल रंग में संकेत है (उत्पेक्षा)। मजीठ अर्थात् वह लता जिसका रस लाल रंग का होता है खून से भर गई है। पलाश का फूल लाल होता है उसे टेसू कहा जाता है। वह भी खून से लाला हो गया है। शिव की भाँति सबको कामदेव के पंचबाण या पुष्पबाण (अरविंद, अशोक, आम्रमंजरी, नवमल्लिका, नीलोत्पल) ने घायल कर दिया है। आम के वृक्ष में बौर लग गए हैं- नई शोभा, नया उल्लास प्राप्त हुआ है। अब फल लगने लगे हैं।वह सुखी हो गया है। हे भाग्यवान कंत ! अब भी तुम लौट आओ (अभिलाषा)। सैकड़ो प्रकार की वनस्पतियाँ अपने-अपने ढंग से फल रही हैं। प्रसन्न हो रही हैं। मालती फूल को मानो स्मरण कर भौंर भी चारों ओर घूम रहे हैं। संयोग चाहते हैं। रस लेना, प्रेम करना चाहेत हैं। मेरे लिए प्रकृति के सारे सुखद फूल विपरीत प्रभाव (विरोधाभास)। जब मैं इन्हें देखती हूँ तो चोट (चांटे) से घायल होकर तड़पने लगती हूँ। इसी मौसम में नारंगी में फल आते हैं। मेरे

शरीर में प्रेम भाव के नारंगी के फल (आकांक्षा) उग आए हैं, किन्तु विरह रूपी सुग्गा मेरे प्रेमभाव रूपी नारंगी को नष्ट कर रहा है (रूपक) । मैं उसकी रक्षा नही कर सकती। उसकी रक्षा प्रिय करेगा। नारंगी में श्लेष भी है। सूखे हुए स्तनरूपी नारंगी में नया कामभाव जागृत हुआ है,जिसे विरह-सुग्गा नष्ट कर रहा है। आओ और रक्षा करो। ऐसी स्तिथि में तेज उड़ने वाले गिरहबाज कबूतर की भाँति द्रुतगति से लौटकर आओ और विरह रूपी तोते को दूर भगाओ। मुझ पालित की रक्षा करो। तुम्हारे बिना विरह के चंगुल से मैं नहीं छूट सकती (उपमा)। घिरिनि परेवा में क्लिष्टता एवं अस्पष्टता दोष माना जाता है। यह कबूतर पक्षीशास्त्रियों के अनुसार द्रुतगति से अपनी प्रिया के पास आता है, किन्तु नारंगी नष्ट करने वाले सुग्गे पर वह आक्रमण नहीं करता। अतः व्यंजना में यह परेवा बाज पक्षी भी माना जा सकता है। प्रश्न पक्षी का नहीं है, रक्षा का है।

विशेष

1.दोहे की अंतिम पंक्ति में नियोजित "नारि पराए हाथ है"- बड़ी ही अर्थगर्भित है। इसके द्वारा नागमती प्रकारांतर से इस तथ्य का आश्रय लेती है कि शायद मेरा पति ईर्ष्या से ही शीघ्र लौट आए कि उसकी स्त्री पर कोई अन्य व्यक्ति अधिकार करना चाहता है।

2. 'नारि' शब्द का श्लेष से 'नाड़ी' अर्थ लेने पर इन पंक्तियों का भाव यह है कि अब मेरी नाड़ी छूटने वाली है, मेरी नाड़ी यमराज के अधिकार में है अतः आप शीघ्रातिशीघ्र आकर मेरी प्राण-रक्षा कीजिए।

3. उपमा, रूपक और श्लेष अलंकार।

भा बैसाख तपनि अति लागी। चोला चीर चंदन भौ आगी।।
सुरुज जरत हिवंचल ताका। बिरह बजागि सौहं रथ हांका।।
जरत बजागिनि होउ पिय छांहां। आइ बुझाउ अंगारन्ह माहां।।
तोहि दरसन होइ नारी। आइ आगि सों करु फुलवारी।।
लागिउं जरे जरे जस भारू। बहुरि जो भूं जसि तजौं न बारू।।
सरवर हिया घटत निति जाई। टूट टूक होइ होइ बिहराइ।।
बिहरत हिया करहु पिया टेका। दिस्टि दवंगरा मेरवहु एका।।
कंवल जो बिगसा मानसर छारहिं मिलै सुखाइ।
अबहुं बेलि फिर पलुहै जौं पिय सींचहु आइ।। 15 /14

प्रसंग

आलोच्य पद्यांश में कवि ने विरहिणी नागमती के हृदय में उठने वाली भावनाओं का वर्णन किया है यथा-

व्याख्या

यद्यपि बैशाख महीने को बसंत क अंत माना जाता है, पर सूर्य के उत्तरायण होने से अकस्मात गर्मी बढ़ जाती है। उस महीने के उद्दीपन और अनुभाव का वर्णन करते हुए आत्मकथन में नागमती कहती है कि बैशाख का महीना आ गया। तपन (गर्मी) बढ़ गई है। शीतोपचार के साधन चोआ(इत्र) और चंदन तथा महीन (तद्गुण अलंकार)। तप्त सूर्य हिमालय की ओर अर्थात् उत्तरायण ताक रहा है, जा रहा है, किन्तु विरह रूपी वज्राग्नि (अविजित) ने तो सीधे मेरी ओर ही अपना रथ हाँक दिया है (रूपक)। यहाँ हिमांचल का अर्थ बर्फ नहीं लेना चाहिए। सूर्य की आवश्यकता यहाँ अपेक्षित नहीं है। मैं विरह की वज्राग्नि (कलि) में जल रही हूँ। हे प्रिय आकर संयोग की शीतल छाया प्रदान करो। मैं विरह रूपी जलते हुए अंगारों में धू-धू कर जल रही हूँ, अर्थात् दुखी हूँ, आओ, और आकर अपने सान्निध्य से, स्पर्श और आलिंगन और संयोग से मुझे शीतल कर विरह की अग्नि को शांत करो। तुम्हारे दर्शन मात्र से विरहिणी नारी शीतल (सुखी) हो जाएगी। आकर मेरे जीवन को जलती हुई अग्नि से हरी-भरी सुखी फुलवारी बनाओ (उपमा)। यहाँ अभिलाषा दशा का वर्णन है। भाड़ में बालू हर समय जलती रहती है। भूंजा भाड़ से कड़ाही में जलती बालू निकालकर कच्चा चना या अन्य अनाज डाल देता है, तथा कलछुल डालकर ऊपर-नीचे करता है और दाना भूनता है। दाना उछलता तो है, पर बार-बार बालू में गिरने और जलने से बच नहीं पाता। उसी प्रकार बैशाख की गर्मी रूपी भाड़ में विरह रूपी भूजा द्वारा वेदना (ताप) के बालू में चना के समान, नागमती को बार-बार भून रहा है। वह लाचार है वेदना रूपी बालू को छोड़ने का उससे बचने का कोई रास्ता उसके सामने नहीं है। गर्मी के प्रभाव से सरोवर का जल सूख गया। उसका हृदय (ताल) सूखकर दरार पड़ने से टुकड़े-टुकड़े हो गया है। उसी प्रकार उसी ढंग से विरहताप में प्रेमजल सूखने से मेरा हृदय फट गया है (दृष्टांत)। हे प्रियतम ! शीघ्र लौटकर आओ और मुझे सहायता प्रदान करो, सहारा (टेक) देने की कृपा करो। कृपा दृष्टि रूपी प्रथम वर्षा जल प्रदान कर टूटे हृदय को जोड़ो। सुखी बनओ। वर्षा के प्रथम जल को दवंगरा कहा जाता है। उसके बरसने पर जलाशयों के दरार भर जाते हैं और एक हो जाते हैं। पहले संयोग व्यथा में हृदय रूपी मानसरोवर में प्रेमजल भरा था और आनन्द रूपी कमल खिला था, अब तुम्हारे परदेस गमन तथा प्रेमजल के अभाव से विरह ताप के

कारण वह आनन्द कमल सूख गया, नष्ट हो गया। उसकी लता फिर पल्लवित हो उठेगी यदि प्रियतम वापस लौटकर अपने प्रेमजल से उसे पुनः सींचने की कृपा करें। संयोग में आनन्द कमल खिल जाएगा। अभिलाषा दशा का वर्णन (रूपक)। डॉ. अग्रवाल ने पाठ भेद में लिखा- 'केवल जो विगसा मानसर छारहिं मिलै सुखाइ।' अर्थात् कमल सूखकर मिट्टी में मिल गया। दवंगरा (प्रथम वर्षा) में उसके पत्ते जल जाते हैं। जड़ बची रहती है। शरद ऋतु आने पर पत्तियाँ पुनः फूट निकलती है।

विशेष

1. जायसी ने देशज शब्दों का बड़ा ही सार्थक प्रयोग किया है। प्रस्तुत पंक्तियों में प्रयुक्त दवंगरा शब्द ऐसा ही है। वर्षा होने से पूर्व ग्रामों में तालाब पूर्णतः सूख जाते हैं और उनकी चिकनी मिट्टी सूखकर बड़े-बड़े टुकड़ो में विभक्त हो जाती है, जिनको लोक शब्दावली में 'कीलें' कहते हैं। अब हल्की-सी भी वर्षा होती है और तालाब में ढुलककर पानी भर जाता है तो ये टुकड़े मिलकर एक हो जाते हैं। प्रस्तुत पंक्तियों में नागमती की स्वपति से दृष्टि-रूपी दौंगरे की याचना करती है जिससे उसके भग्न हुए हृदय के टुकड़े मिलकर एक हो जाएँ।

2. रूपक, उत्प्रेक्षा, उपमा और सांगरूपक अलंकार।

जेठ जरौ जग बहै लुवारा। उठै बवंडर धिकै पहारा।।
बिरह गाजि हनिवंत होइ जागा। लंका डाह करै तन लागा।।
चारिहुं पवन झंकोरै आगी। लंका डाहि पलंका लागी।।
दहि भइ स्याम नदी कालिंदी। बिरह कि आगि कठिन असि मंदी।।
उठै आगि और आवै आंधी। नैन न सूझ मरौं दुख बांधी।।
अधजर भई मांसु तन सूखा। लागेउ बिरह काग होइ भूखा।।
मांसु खाइ अब हाड़न्ह लागा। अबहुं आउ आवत सुनि भागा।।
परबत समुंद मेघ ससि दिनअर सहि न सकहिं यह आगि।।
मुहमद सती सराहिऔ जरै जो अस पिय लागि।। 15 /15

प्रसंग

जायसी ने प्रस्तुत पद्यांश में ज्येष्ठ के महीने में नागमति को अनुभ
विरहाग्नि का वर्णन किया है।

अपनी प्रगति जांचिए:

1. आखिरी कलाम किसी रचना है?
2. नागमति वियोग वर्णन में कितने महीनों का उल्लेख है?
3. पद्मावत की काव्य भाषा है?
4. पद्मावत की रचना किस शैली में

व्याख्या जेठ के उद्दीपन और अनुभाव का वर्णन करते हुए आत्मकथन में नागमती कहती है कि जेठ में
सारा संसार सूर्यताप से जलता है और लू चलती है। बवंडर (वायुचक्र) उठता है। आकाश मेंमानो अग्नि वर्षा
होती है (उत्पेक्षा)। मेरा विरह लंका दहन करने वाले हनुमान की भाँति जगउठा है और गरजकर, चुनौती
देकर मेरे शरीर को लंका की भाँति जला रहा है। विरह का मानवीकरण हुआ है। वह शरीर में लगा हुआ है
(उपमा)। चारों दिशाओं से भारी हवा झकझोरकर चल रही है। अब वह विरह की अग्नि लंका जलाने के
पश्चात् मानो मेरा पलंग में भी लगरही है। पंलग भी जल रही है (रूपक, उत्पेक्षा) । विरह में जलकर मैं एक दम
काली हो गई हूँ जैसे कृष्ण वियोग में जलकर यमुना काली हो गई थी (दुष्यंत)। विरह की भीतर जलने वाली
धीमी आग देखने में मंद होती है, पर अत्यन्त कठिन, प्रभाव से असहय होती है- सतत जलाती है। जेठ में बार-
बार आँधी भी आती है। एकाकीपन में विरहाग्नि तीव्र हो जाती है। बाहरी संकट प्रिय का स्मरण कराते हैं, पर उसका अभाव बना रहता है। दुःख के बंधन में बाँधी हूँ । नेत्र से कुछ भी दिखाई नहीं देता है। मैं आधा जले हुए मुर्दे की तरह हो गई हूँ (उपमा)। शरीर का मांस कब का सूख गया है। विरह मृत्यु (काल) के समान भूखा बनकर मुझे खा जाने के लिए लग गया है। मांस खा चुका है। मैं पूर्णतः दुर्बल हो चुकी हूँ। अब वह मेरी हड्डियों को खाने पर तुल गया है। हे प्रिय ! यदि तुम अब भी आ जाओ तो यह विरह रूपी काल तत्काल भाग जाएगा और मेरी रक्षा हो जाएगी। पर्वत, सागर , चन्द्रमा, बादल, सूर्य उस ईश्वर से पार्थक्य की पीड़ा को, स्थिति को नहीं सह सकते, सबका अस्तित्व उसी पर निर्भर है। मुहम्मद जायसी उस स्त्री (जीव) को धन्य (श्रेष्ठ) मानते हैं जो ऐसे प्रिय (इश्क हकीकी) के लिए दुखी है। उसकी साधना कर रही है। उसे पाना चाहती है। यहाँ सूफी अध्यात्म का संकेत दिया गया है।

विशेष

1. 'लंका डाहि पलंका' – इस पंक्ति का डा. वासुदेवशरण ने यह अर्थ दिया है कि 'वह अग्नि लंका को जलाकर अब पलंग में लग गई'- जो इस दृष्टि से अनुपयुक्त है कि इस पंक्ति में जायसी ने 'लंका छोड़कर पलंका जा पहुंचने' की लोकोक्ति का प्रयोग किया है और इसका भाव है कि वह दूर-दूर तक फैली हुई है।
2. उपमा और रूपक अलंकार।

4.9 मुख्य शब्दावली

- सूफ – ऊन, कलम का रेशा, दवात में डाला जाने वाला कपड़ा ।
- सूफी – संसार की आसक्ति से मुक्त होकर ईश्वर की प्राप्ति की साधना करने वाला, सूफी संप्रदाय का अनुयायी ।
- मसनवी – उर्दू-फारसी का वह प्रबंध-काव्य जिसके हर शेर के दोनों मिसरों का काफिरा एक, पर हर शेर का काफिरा जुदा हो ।
- अभिसार – अभिसरण, प्रिय से मिलने के लिए जाना ।
- अतिश्योक्ति – किसी बात को बढ़ा-चढ़ाकर कहना, एक अर्थालंकार जिसमें किसी वस्तु का अतिरंजित वर्णन होता है।

4.10 'अपनी प्रगति जांचिए' के उत्तर

1. मलिक मुहम्मद जायसी
2. 12
3. अवधी
4. मसनवी
5. कुतुबन
6. शृंगार
7. उत्प्रेक्षा एवं अतिशयोक्ति अलंकार

4.11 अभ्यास हेतु प्रश्न

लघुउत्तरीय प्रश्न

1. नागमती के चरित्र की किन्हीं दो विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।
2. समासोक्ति अलंकार की परिभाषा दीजिए ।
3. सूफी शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए ।

दीर्घउत्तरीय प्रश्न

1. जायसी का विरह वर्णन हिंदी साहित्य का अद्‌वितीय विरह वर्णन है ? सिद्‌ध कीजिए ।

2. पद्‌मावत में व्यक्त लोक तत्व का वर्णन हुआ है ? स्पष्ट कीजिए ।

3. जायसी की काव्यभाषा की विशेषताएं बताइए ?

4.12 आप ये भी पढ़ सकते हैं –

- आचार्य रामचंद्र शुक्ल - हिंदी साहित्य का इतिहास ।
- विजय देव नारायण साही - जायसी
- डॉ. शिवसहाय पाठक – मलिक मुहम्मद जायसी और उनका काव्य
- डॉ. लक्ष्मीनारायण शर्मा, भक्तिकालीन इतिहास

ईकाई–5
तुलसीदास

इकाई की रूपरेखा

5.0 परिचय
5.1 इकाई का उद्देश्य
5.2 तुलसी की सामाजिक सांस्कृतिक दृष्टि
5.3 भारतीय जीवन को रामचरितमानस की देन
5.4 तुलसी के राम
5.5 तुलसी की स्त्री संबंधी धारणा
5.6 कलिकाल, वर्तमान जीवन यथार्थ और तुलसी
5.7 तुलसी की काव्यशैलियाँ
5.8 तुलसी की सौन्दर्य दृष्टि
5.9 तुलसी की काव्यभाषा
5.10 तुलसी का समन्वयवाद
5.11 उत्तरकाण्ड का महत्व
5.12 पाठांश
5.13 मुख्य शब्दावली
5.14 'अपनी प्रगति जाँचिए' के उत्तर
5.15 अभ्यास हेतु प्रश्न
5.16 आप ये भी पढ़ सकते हैं

5.0 परिचय

भारतीय साहित्य, हिन्दी आलोचना और विशेषतः मध्ययुगीन साहित्य का अध्ययन करते समय 'तुलसी साहित्य' का अध्ययन हमें अनिवार्यतः करना ही चाहिए। तुलसी का समग्र साहित्य तद्युगीन परिवेश का चित्र तो प्रदर्शित करता ही है, साथ ही भारतीय जीवनोत्सव की कथा कहता हुआ विभिन्न सांस्कृतिक, सामाजिक एवं अन्यान्य धार्मिक एवं धर्म प्रेरित जीवनानुभूतियों की भी सरल व्याख्या प्रस्तुत करता है। तुलसी की कविता भारतीय जीवन का लास्यपूर्ण संकीर्तन करती हुयी उसकी विभिन्न बाह्यभ्यंतर सरणियों की एक व्यवस्था पर प्रकाश डालने का कार्य करती है।

भारत की विभिन्न सांस्कृतिक विशिष्टताओं का सांगोपांग, सचित्र दर्शन एक ही स्थान पर करना हो तो तुलसी से उपयुक्त कोई भी साहित्यकार नहीं है। इस विषय में वे एकमेवद्वितीय हैं। उनका लोक के प्रति समन्वयवादी दृष्टिकोण इस समाज की विभिन्न बहुरंगी छवियों का एकसूत्रीकरण करके उनकी संतुलित और समन्वित झांकी प्रस्तुत करने का कार्य करता है। उनकी विभिन्न प्रकार की अतिवादी धारणाएँ वस्तुतः उनकी अपनी धारणाएँ नहीं हैं, बल्कि तद्युगीन सामाजिक जीवन में स्थिति विभिन्न वर्गों की जीवन के प्रति अपनी निजी आस्थाएँ हैं। हमें तुलसीदास के अध्ययन क्रम में उनकी विभिन्न जीवनदृष्टियों के प्रति व्यापक दृष्टिकोण को समझना होगा और उनकी जीवनानुभूति और जीवनविवेक को गहराइयों से समझना होगा। आशा है कि इस ईकाई के अध्ययन के उपरान्त हम उनके विषय में एक नये दृष्टिकोंण से चिंतन कर सकेंगे।

5.1 ईकाई के उद्देश्य

इस ईकाई के अध्ययन के उपरान्त आप जान सकेंगे :

1. तुलसीदास के युगबोध और उनके सामरिक सांस्कृतिक अवदान के विषय में।
2. 'रामचरितमानस' के आलोचनात्मक अध्ययन से भारतीय जीवन दर्शन के विषय में।
3. तुलसीदास के धर्म दर्शन, सामाजिक धारणाएँ और यथार्थ स्थितियों के प्रति उनके गंभीर आलोचनात्मक दृष्टिकोंण के विषय में।
4. तुलसीदास का काव्यशिल्प और उनकी सौन्दर्यानुभूति के विषय में।
5. तुलसीदास के माध्यम से विभिन्न प्रकार के सांस्कृतिक, सामाजिक एवं राजनैतिक समन्वयवाद एवं राष्ट्रीय एकता की सामयिक धारणा में उनकी उपस्थिति की प्रासंगिकता के विषय में।
6. तुलसीदास के भाषाई दृष्टिकोंण और इसके माध्यम से भारतीय भाषा चिन्तन की आधारभूत विशेषताओं के विषय में।
7. तुलसी के काव्य में सामन्त–विरोधी मूल्यों को समझा सकेंगे तथा उनके दार्शनिक विचार को जान सकेंगे।
8. तुलसी की भक्ति पद्धति एवं उनकी लोकमंगलवादी भूमिका को समझ सकेंगे।

5.2 तुलसी की सामाजिक, सांस्कृतिक दृष्टि

उच्च श्रेणी का साहित्य समाज और अपनी समकालीन संस्कृति की सही और सप्राण अभिव्यक्ति करने में समर्थ होता है। तुलसीदास की कविता मध्ययुगीन समाज की विभिन्न गतिविधियों उनकी विभिन्न मान्यताओं और पारस्परिक सौहार्दपरक जीवनोत्सवों का एक आख्यान प्रस्तुत करती है, जहाँ समाज का प्रत्येक वर्ग अपनी समस्त सांस्कृतिक विशिष्टताओं के साथ सशक्त उपस्थिति दर्ज कराता है। तुलसीदास अपनी समर्थ दृष्टि से उन समाजों की विशिष्ट स्थितियों का साक्षात्कार करते हैं तथा संग्रहणीय और सारभूत तत्वों को ग्रहण करके समाज के सम्मुख उसका एक आदर्श पक्ष रखने का कार्य करते हैं जो लोक को प्रेरणा प्रदान करता हो जिसका स्वरूप जीवन के सतत जुड़ा होने के बावजूद उसे एक अलग प्रकार की विशिष्टता के लिए सतत प्रेरणा प्रदान करता हो। गहरी जीवनानुभूतियाँ भी जिन तथ्यों को ग्रहण नहीं कर पाती, तुलसीदास उनका साक्षात्कार करने में सक्षम हैं। सिर्फ यही नहीं अपने अभिव्यक्ति कौशल के द्वारा वे उसे और भी प्रभावी रूप में प्रस्तुत करते हैं।

प्रबन्धकार कवि के रूप में वे प्रबन्ध रचना की विधागत रूढ़ियों से बँधे है जिसमें कि नायक प्रख्यातवंशी, राजपुत्र, धीर, प्रतापवान और प्रभावशाली होना अनिवार्य है। तुलसीदास अपने काव्यनायक राम को महलों के पार लोक की यात्रा कराते हैं और इस यात्राक्रम में उनके द्वारा विभिन्न सामाजिक जनों की जीवन संस्कृतियाँ, क्षेत्रीय विशेषताओं, लौकिक भावाभिव्यक्तियों की सुन्दर मीमांसा की जाती है। अयोध्या के राजन्य वर्ग का जीवन दर्शन, समाज को अनुकरणीय और ग्राह्य लगता है। प्रजा उन्हें आदर्श मानती है। यह केवल राजव्यवस्था के विशेष दबाव से सम्भव नहीं होता, वरन् राजा के प्रजापरायण होने पर ही होता है। राम के जन्म के समय तुलसी कहते हैं– ''श्री निवास प्रभु प्रगटे सकललोक बिश्राम।'' और उनकी स्तुति में ''भए प्रगट कृपाला दीन दयाला।'' जैसे शब्दों का प्रयोग करते हैं। राजवर्ग का प्रजावर्ग के प्रति अतिशय स्नेह ही उसे सामूहिक प्रतिस्नेह की व्यापकता से उपलब्धि कराता है। तुलसीदास के

समय भारत में राजा के प्रजा से संबंध वैसे रह न गये थे, जैसे होने चाहिए। 'रामराज्य' का आदर्श कलियुग के राजाओं को भी एक सन्देश देने की कोशिश करता है। प्रजा को त्रास से मुक्ति दिलाने के लिए ही राम ने राक्षसों के संहार का व्रत लिया– ''निसिचरहीन करऊँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।'' इसी कारण से राम का शत्रु, प्रजा का सामूहिक शत्रु भी बन गया। राम–रावण का युद्ध भी एक सन्देश प्रदान करता है जहाँ प्रजा की समग्र सहानुभूतियाँ राजा के साथ है। वन्य संस्कृति के प्रतीक वानर, भालू भी मानुषीय संस्कृति के प्रति अपना सहयोगात्मक रुख रखते हैं। यहाँ ध्यान देने की बात है कि देव संस्कृति और वन्य संस्कृति दोनों मिलकर मनुष्य संस्कृति के प्रतीक राम को आसुरीय और अराजक शक्तियों के विरुद्ध सहायता प्रदान करते हैं। वन पथ पर चलते हुए राम के साथ सारी प्रजा की संवेदनाएँ है। राज संस्कृति के प्रति प्रजा की समसहानुभूति का उदाहरण अन्य ऐतिहासिक कथानकों में दुलर्भ है। इन दृष्टियों से तुलसीदास के संस्कृतिबोध से प्रेरणा ग्रहण करते हुए हमें यह विचार करना चाहिए कि पूर्वोत्तर की आदिवासी संस्कृति, उत्तरभारत की कृषक संस्कृति और दक्षिण की द्रविण संस्कृति के अन्योन्याश्रित सम्बन्धों को समझते और उनको अन्तः सूत्रित करते हुए हम भारत की सामरिक सामाजिक संस्कृति की तस्वीर प्रस्तुत करने की दिशा में प्रयास कर सकते हैं।

5.3 भारतीय जीवन को 'रामचरितमानस' की देन

भारतीय मनीषा की विभिन्न चिन्तन धाराओं, दार्शनिक और शास्त्रीय मीमांसापरक व्याख्याओं, लोक साहित्य के विभिन्न आयामों और समस्त सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन पर्वों की सम्मिलित और साररूप में उपस्थिति किसी एक भारतीय महाकाव्य में मिलती है तो वह केवल 'रामचरितमानस' है। समग्र भारतीय वाङ्मय का अवगाहन करके भारत को जान पाना अत्यन्त दुष्कर है लेकिन केवल 'रामचरितमानस' के गहन अध्ययन से केवल एक कथा का नहीं बल्कि समग्र भारत का साक्षात्कार किया जा सकता है। रामचरितमानस ने समाज से बहुत कुछ ग्रहण किया और बहुत कुछ प्रतिदान भी दिया है। अतः वह समाज के प्रति दाता और ग्राही दोनों की विशिष्ट भूमिका निर्वाह करने वाला ग्रन्थ है। इतिहास में वही रचनाएँ कालजयी होती हैं जिनका रचनाकार गहन जीवनानुभूति से लोक का साक्षात्कार करके उनकी अन्तर्वस्तु का निर्माण करता है। साक्षात्कार के क्षणों में वह एक भोक्ता के रूप में भी उपस्थित होता है केवल द्रष्टाभाव से चीजों का निरीक्षण नहीं करता। फलतः उसकी रचना उसके जीवन विवेक से अनुप्राणित होकर कालजयी हो जाती है। 'रामचरितमानस' तुलसीदास के जीवन विवेक और उनके द्वारा कृत लोकसाक्षात्कार का काव्य ग्रन्थ है। फलतः उनका काव्यनायक केवल राजा नहीं है बल्कि वह लोकराजा है। तुलसीदास राज जीवन के पथ पर राम को अधिक समय तक नहीं ले चलते राम के बाल्यकाल को छोड़कर उनका शेष जीवन सामाजिक बना देते हैं। 'राजा–प्रजा' के मिलनोत्सव की छवियों को तुलसीदास ने मग्न होकर चित्रित किया है। भिन्न–भिन्न समाजों के दृश्य उनके अपने द्वारा रचित तो अवश्य है लेकिन वे समग्र भारतीय समाजों का सर्वांगीण प्रतिनिधित्व करने में सक्षम हैं। सीता का रंगभूमि में प्रवेश होता है और सखियाँ मंगलगीत गाती है। ''चली संग लै सखी सयानी। गावतगीत मनोहर बानी।।'' विवाहोत्सव पर मंगलचार या मंगलगीत गाने की भारतीय परम्परा रही है। और फिर राम के द्वारा वनगमन के समय सीता के प्रति ग्राम वधुओं की संवेदनाएँ– ''स्वामिनि अबिनय छमबि हमारी। बिलगु न मानब जानि गँवारी।।'' और ''कोटि मनोज लजावन हारे। सुमुखि कहहु को आहिं तुम्हारे।।' ये सभी भारतीय समाजों की पारस्परिक सौहार्दपरकता का चित्र प्रस्तुत करते हैं। केवट के समाज के मध्य राम की सहजता– ''सुनि केवट के बैन प्रेम लपेटे अटपटे। बिहँसे करुनाऐन चितइ जानकी लखन तन।'' विभिन्न समाजों के प्रतिनिधि पात्रों के अन्तर्मन में झाँकते हुए तुलसीदास जैसे स्वयं को उसी परिस्थिति में रख कर उसकी अभिव्यक्ति को सही और प्रभावी रूप में प्रस्तुत करते हैं। 'रामचरितमानस' आख्यान के रूप में केवल एक राजा की जीवनी न होकर विभिन्न प्रकार के समाजों विभिन्न प्रकार के लोक संस्कृतियों, उनकी विविध मान्यताओं की कथाएँ भी कहता है।

तुलसीदास के युग में जनतंत्र न था लेकिन अपने काल की निरंकुश शासन व्यवस्था के मध्य में भी उन्होंने जनतंत्र की और इसको पुष्ट करने वाले सामर्थ्यवान समाजों की सृष्टि की। उनके काव्य नायक राजा राम लोक से संवाद करते हैं प्रजा का मन जीतते हैं। उनके मत में प्रजा का सामूहिक अभिमत है। भारतीय समाज क्रान्ति का आधान नहीं करता क्योंकि उसका स्वरूप 'राजा–प्रजा' के सहभाव से व्यवस्था के संचालन का पक्षधर है, तुलसीदास 'रामचरितमानस' में राजव्यवस्था के इसी स्वरूप को हमारे सामने प्रस्तुत करते हैं–

''दंड जतिन कहँ भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।

जीतहु मनहिं सुनिअ अस रामचन्द्र के राज।।

राम के राज्य काल में दण्ड सिर्फ सन्यासियों के हाथ में सुशोभित होता है। भेद और चातुर्य सिर्फ नर्तकों को ज्ञात होता है। लोग किसी का क्षेत्र जीतने की नहीं बल्कि पारस्परिक सौहार्द हेतु हृदय को जीतने की आकांक्षा रखते हैं। यह प्रसंग तुलसीदास के 'रामचरितमानस' में वर्णित 'आदर्श भारतीय राजव्यवस्था' का स्वरूप भी प्रतिपादित करता है।

समन्वयवादी कवि सामाजिक स्थितियों में सबसे उपेक्षित जातियों को भी अपनी कविता के केन्द्र में लाने का प्रयत्न करते हैं। एकांगी भाव से लिखी गयी कविता कभी भी सम्पूर्ण समाज पर समग्रता में विचार नहीं कर सकती। एक सचेत कवि के रूप में तुलसीदास की व्यापक दृष्टि से कोई भी वर्ग बचता नहीं है जो तद्युगीन समाजों में अपनी उपस्थिति बनाये हो। निषादराज गुह, कोल, किरात, पुरवासी, माली, वनवासी समाज, संत समाज, पशुपालक, कृषक, उपेक्षित स्त्री पात्र आदि सभी रामचरितमानस में अपनी अभिव्यक्ति देते हैं। तुलसी ऐसे समय के कवि हैं जब भारत की सत्ता मुगलवंश के अधीन थी। राज्य सिंहासन की लिप्सा में व्यक्ति पारिवारिक सम्बन्धों का हन्ता बन बैठा था। भरत के आदर्श से तुलसीदास राज्य के सम्मुख मानवीय सम्बन्धों की स्थापना पर बल देते हैं और भारतीय संस्कृति की आधारभूत विशेषताओं में 'पारिवारिक आदर्श' को महत्व प्रदान करते हैं।

चलत पयादें खात फल पिता दीन्ह तजि राजु।

जात मनावन रघुबरहिं भरत सरिस को आजु।।

इस प्रकार रामचरितमानस 'पारिवारिक बोध' के साथ भारतीय सामाजिक संस्कृति को समग्रता में समझाने का आधार ग्रन्थ है।

अतः हम यह देखते हैं कि भारतीय जीवन की विभिन्न स्थितियों, परिवर्तनों और विभिन्न परम्पराओं पर 'रामचरितमानस' का प्रत्यक्ष प्रभाव परिलक्षित होता है। भारतीय जीवन में रचे बसे प्रत्येक जाति एवं धर्मावलम्बी व्यक्तियों के लिए 'रामचरितमानस' पठनीय और अनुकरणीय है। रहीमदास ने रामचरितमानस के विषय में अपनी सम्मति देते हुए लिखा भी है–

रामचरितमानस बिमल सन्तत जीवन प्रान।

हिन्दुवान को बेद सम जमनहिं प्रगट कुरान।।

5.4 तुलसी के 'राम'

भारतीय वाङ्मय में राम पहले से ही एक विशिष्ट स्थान बनाये हुए थे। राजाओं के लिए आदर्श शासक, प्रजाओं के लिए लोक रक्षक, वीरों के लिए अद्वितीय योद्धा, समाज के लिए

उसकी बहुविध स्थितियों में सदा उपस्थित रहने वाले लोकनायक की विभिन्न भूमिकाओं में राम का एक आदर्श रहा है। तुलसीदास राम की मूर्ति का निर्माण लोक की माटी से करते हैं और इस प्रकार उनके नायकत्व को जनसाधारण की स्वीकृति दिलाते हैं। तुलसीदास की विशिष्टता इस बात के लिए भी रेखांकित की जाएगी कि उन्होंने मन्दिरों में स्थित एवं शास्त्रों में वर्णित राम को जनसामान्य के घरों में पहुँचा दिया। राम की प्रतिष्ठा पहले एक अवतार के रूप में थी तुलसीदास ने राम की जो छवि जनता के मध्य स्थापित की वह पहले से भिन्न थी। शायद इसी कारण राम का दुःख, राम का वियोग, राम की शूरवीरता में जनता का समानुराग परिलक्षित होता है। लोक की छवि का दर्शन राम में होता है और राम की छवि का दर्शन लोक में होता है।

जड़ चेतन जड़ जीव जग, सकल राममय जानि।

बन्दऊँ सबके पद कमल, सदा जोरि जुग पानि।।

इसीलिए हमें यह समझना चाहिए कि तुलसीदास द्वारा अंकित राम की छवि केवल एक धर्म के प्रतीक पुरुष की न होकर सामान्य जनता की मनोकांक्षाओं के प्रतीक पुरुष की है। दुनिया भर के धार्मिक साहित्यों में वर्णित ईश्वर या देव हमेशा लोक से विशिष्ट उच्च कोटि के व्यक्ति के रूप में वर्णित किए जाते हैं। तुलसीदास में राम यहीं पर लोक से जुड़ी अपनी एक विशिष्ट छवि बनाते हैं। लोक उनसे जितना प्रभाव ग्रहण करता है वे लोक से उससे कहीं अधिक प्रभाव ग्रहण करते हैं। तुलसीदास के समय का शासक वर्ग प्रजावर्ग से अलग अपनी शोषकवृत्ति के द्वारा निरन्तर प्रजा को त्रास प्रदान करता था। तुलसीदास ने उसे राम के उस विशिष्ट चरित्र का आधार दिया जो कि राजाओं का भी राजा है और जिससे प्रजा सीधे संवाद भी कर सकती है। इसलिए प्रजा इस लोक के शोषकों, सामन्तों और राजाओं को राम का आश्रय ग्रहण करते हुए चुनौती देती है। क्योंकि उनके राम उनको अभयदान देते हैं–

"निसिचर हीन करउँ महिं भुज उठाइ पन कीन्ह।"

प्रजा की भक्ति मे ंविनम्रता है और स्वाभिमान भी। यह सब उसे राम का आश्रय ग्रहण करने पर ही मिलता है। राम भी विनीत पुरुष हैं भवसागर को पार कराने वाले राम नदी पार करने के लिए केवट और सागर पार करने के लिए वानर भालुओं से सहायता प्राप्त करते हैं। पात्र की सर्वसामर्थ्यवत्ता में भी प्रजा का सहयोगात्म भाव है जो कि तुलसीदास को अनन्य बनाता है। जो राम को अपना आश्रय बनाता है राम उसका समस्त योग क्षेम वहन करते हैं–

करहुँ सदा तिन्ह कै रखवारी।

जिमि बालक राखै महतारी।।

पिता के वचन की रक्षा के लिए अयोध्या का राज्य त्याग करने वाले राम, प्रजा की रक्षा के लिए रावण की आततायी सत्ता के विरुद्ध खड़े होते हैं। राज्य जीवन के प्रति उनकी यह अपरिग्रहता और कर्मयोगमय जीवन का व्रत उनके प्रजानुरंजक रूप की प्रतिष्ठा करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने राम के नायकत्व के इसी भाव को लक्ष्य करते हुए उनके लोकरक्षार्थ धर्म में प्रवृत्त होने और लोकानुंरजनकारी स्वरूप की सुन्दर व्याख्या की है। इस प्रकार से तुलसीदास के राम अपनी विशिष्ट जनधर्मी भूमिका बनाये रखने में सक्षम हो सके हैं, जो उन्हें अनन्यतम रूप प्रदान करती है।

5.5 तुलसीदास की स्त्री संबंधी धारणा

तुलसी साहित्य को सबसे विवादास्पद पक्ष उनकी स्त्री संबंधी धारणाएँ रही हैं। रामचरितमानस की कतिपय पंक्तियों को सन्दर्भ से काटकर देखने वाले सुधी आलोचकों ने उनकी स्त्री सम्बन्धी धारणाओं को सामन्ती और पुरुषवादी मानसिकता से ग्रस्त बताया है। इसमें दो राय नहीं कि रामचरितमानस में कुछेक स्थलों पर स्त्रियों के लिए कुछ स्तरहीन बातें कही गयी हैं लेकिन हमें देखना चाहिए कि रचनाकार उन पंक्तियों से अपनी कोई सहमति भी रखता है या नहीं। भिन्न सन्दर्भों में और भिन्न पात्रों द्वारा कही गयी स्त्री संबंधी उक्तियाँ रचनाकार की स्वयं की सिद्धियाँ नहीं होती जिन्हें वह स्थापित करना चाहता है। महाकाव्य मे अधम पात्रों के द्वारा या खलनायकों के द्वारा कहीं गयी बातों के साथ रचनाकार खड़ा नहीं होता है बल्कि उन बातों के खण्डनार्थ उसका काव्यानायक प्रतिवाद करता है। अतः रावण के द्वारा कही गयी– ''नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं।।'' या समुद्र के द्वारा कही गयी– ''ढोल गँवार सूद्र पशु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।।'' स्त्री संबंधी धारणाएँ तुलसीदास की निजी धारणाएँ नहीं है। खलनायकों के द्वारा कही गयी बातों के साथ रचनाकार का सदैव विरोध रहता है। नायक के द्वारा कही गयी सभी बातों के साथ रचनाकार खड़ा होता है और उन सभी धारणाओं के प्रति उत्तरदायी होता है जो कि नायक की अपनी धारणाएँ है। जाहिर है कि रामचरितमानस के सत् पात्रों (राम, भरत, लक्ष्मण, हनुमान आदि) की धारणाएँ स्त्री के प्रति सम्मान भाव की सूचक हैं।

राजा दशरथ स्त्री की बात को स्वीकार करते हैं और राम अपनी सभी माताओं का सम्मान करते हैं उनकी सभी क्रियाओं में स्त्री के प्रति एक विशेष सम्मान दृष्टिगोचर होता है। समाज की परित्यक्ता और वंचिता स्त्री पात्रों (अहिल्या, कुबरी, शबरी आदि) को राम आदर देते हैं समाज के मध्य उनकी गौरवमयी प्रतिष्ठा की पुर्नप्राप्ति कराने हेतु तत्पर होते हैं। राम के सम्पूर्ण जीवन में ये विभिन्न क्रियाएँ तुलसीदास द्वारा 'रामचरितमानस' में वर्णित की गयी है। अतः तुलसी का पक्ष स्त्री का अपना गौरवशाली स्थान सुनिश्चित करने का आग्रही है, उनकी वंचना और ताड़ना करने का नहीं।

रामचरितमानस की भक्ति मती स्त्री पात्रों में एक पात्र शबरी भी है। वह विनय में राम से कहती है– ''अधम ते अधम अति नारी। तिन्ह मँह मैं मतिमंद अघारी।'' यहाँ पंक्ति वस्तुतः उसने अपनी विनयशीलता को प्रदर्शित करते हुए कही है ठीक उसी प्रकार जैसे कोई भक्त अपने को आराध्य प्रभु का दासानुदास कहता है। विनय को विवेक से समझने की आवश्यकता होती है। राम शबरी के जूठे बेर खाते हैं और उसे नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं। एकांगी दृष्टि से तुलसीदास के व्याख्याकार आलोचक कभी भी भक्ति के मूल तत्व को नहीं पकड़ सकते। सामन्ती जीवन के मध्य स्त्री की पीड़ाएँ क्या हैं इसके सम्बन्ध में तुलसीदास ने बहुत कुछ लिखा है। उनकी एक चौपाई जिसे यहाँ उद्धृत करना समीचीन होगा–

''कतबिधि सृजी नारि जग माँही। पराधीन सपनेहु सुख नाहीं।।''

पराधीनता नारी की विड़म्बना रही है, तुलसीदास इसे समझते हैं। स्त्री पात्र के अपमान पर ही राम युद्ध के लिए तत्पर होते हैं। तुलसी की स्त्री संबंधी धारणाओं पर विचार करते हुए हमें इन सन्दर्भों को भी ध्यान में रखना चाहिए।

5.6 कलिकाल, वर्तमान जीवन यथार्थ और तुलसी

तुलसी की जीवनदृष्टि इस मायने में विलक्षण है कि वह उसके सामाजिक परिवेश की यथार्थ भूमिका को रेखांकित करते हुए उसका विवेचन एवं विश्लेषण करती है। तुलसी का समग्र साहित्य उनकी युगीन जन चेतना का यथार्थ परक व्याख्या करता है। तुलसीदास राजा तथा प्रजा दोनों की यथार्थ स्थितियों का विवेचन विश्लेषण करते हैं। अवध के किसानों से लेकर चित्रकूट के वनवासियों और काशी के भिक्षुक वर्ग की यथास्थिति का प्रभावी चित्रण तुलसीदास

के साहित्य की मूल चेतना है। उनकी कविता अपनी अन्तर्वस्तु का निर्माण इन सभी सामाजिक वर्गों की यथार्थ जीवन स्थितियों से करती है। अपने समय की घनघोर विषमताओं में भी उनकी वाणी ओज दीप्त है, वे कभी भी अपने समय, अपने युग को कोसते नहीं है बल्कि उसकी प्रशंसा करते हुए कहते हैं–

''कलियुग सम युग आन नहिं जौ नर कर बिस्वास।

गाइ राम गुन गन बिमल भवतर बिनहिं प्रयास।।''

लेकिन मध्यकाल में श्रमिक वर्गों की स्थिति की विडम्बना भी उनकी कविता का मुख्य विषय है। कलियुग में अकाल पड़ता है प्रजा अन्नहीन होकर भूखों मर रही है– ''कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी बहु लोग मरै।'' किसान असहाय हैं, परिस्थितियों के सम्मुख लाचार हैं वहीं दूसरी ओर सामन्तवर्ग उनका शोषण बना बैठा है। प्रजा के शोषण के विभिन्न तरीके वह अपनाता है। तुलसीदास धर्म के जटिल कर्मकाण्ड से समाज की मुक्ति का आह्वान करते हैं जो कि शोषकों का मुख्य हथियार है– उनकी स्पष्ट घोषणा है– ''नहिं कलि करम न भगति बिवेकू। रामनाम अवलम्बन एकू।।''

यह रामनाम किसानों का, शिल्पकारों का, मजदूरों का, शूद्रों का, स्त्रियों का सबका अवलम्ब बनता है जिसके बल पर वे राजशाही के दौर में भी जनता की ओर से राजन्य वर्ग की आलोचना करने में सक्षम होते हैं।

राज करत बिनु काज ही, करें कुचालि कुसाज।

तुलसी ते दसकंध ज्यों, जइहैं सहित समाज।।

प्रजा का ही पक्ष लेकर उन्होंने राजा को चेतावनी दी है– ''जासु राज प्रिय प्रजा दुखारी। सो नृप अवसि नरक अधिकारी।।'' कलियुगी राजाओं के दण्डपरायण होकर प्रजा को भयभीत करने की नीतियों का उन्होंने डटकर विरोध किया है–

गीड़ गंवार कृपाल महि, जमन महामहिपाल।

साम न दाम न भेद कलि केवल दण्ड कराल।।

और भी ''नृप पाप परायण धर्म नहीं। करि दंड विडंब प्रजा नित ही।।''

कवितावली का सम्पूर्ण उत्तरकाण्ड निर्धन प्रजा और उससे सतत रूप से जुड़े तुलसीदास के जीवन के यथार्थपरक और विड़म्बनापूर्ण चित्र खींचता है। कलियुग की प्रमुख समस्याओं को तुलसीदास रेखांकित करते हुए लिखते हैं–

''खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,

बनिक को बनिज न चाकर को चाकरी।

जीविका बिहीन सब सीद्यमान सोच बस,

कहैं एक एकन सों कहाँ जाई का करी।।''

रामविलास जी ने लिखा है कि भूख की यह आग ब्राह्मण और शूद्र का भेद नहीं मानती, किसान और मजदूर का भेद नहीं मानती, स्त्री और पुरुष का भेद नहीं मानती, सबको समान रूप से सताती है। तुलसीदास अपने समय के दुःसह अकाल का चित्रण करते हुए

लिखते हैं– ''ऊँचे नीचे करम धरम अधरम करि, पेट को ही पचत बेंचत बेटा बेटकी।'' यह आग तभी बुझेगी जब जनता शोषक वर्ग से सक्रिय प्रतिरोध की भूमिका में आये जिसके लिए तुलसीदास, रामभक्ति का सम्बल देते हैं– ''तुलसी बुझाइ एक रामघनस्याम हीं ते आगि बड़वागि ते बड़ी है आगि पेट की। तुलसी का युग सन्दर्भ इन्हीं बिन्दुओं से समझना चाहिए।

5.7 तुलसी की काव्यशौलियाँ

तुलसीदास ने अपने समय की सभी प्रमुख काव्य शैलियों में काव्य रचना करके 'राम कथा' को विस्तार प्रदान किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने तुलसीदास की सभी काव्यशैलियों को वर्गीकरण पाँच वर्गों के अन्तर्गत किया है। प्रथम काव्य शैली वीरगाथा काल की छप्पय पद्धति है। तुलसीदास ने प्रायः वीर और रौद्र रस के प्रसंगों का वर्णन करते समय छप्पय शैली में पदों की रचना की है और इस प्रकार के वस्तु चित्रण में उन्होंने अपनी सर्वाधिक प्रभावी उपस्थिति दर्ज करायी है। 'कवितावली' में धनुर्भग होने पर उसके ध्वनि निनाद का उदाहरण दृष्टव्य है–

''डिगति उर्वि अति गुर्वि सर्व पब्बै समुद्र सर।

ब्याल बधिर तेहिं काल बिकल दिगपाल चराचर।।

दिग्गयंद लरखरत, परत दसकंध मुक्ख भर।

सुरविमान हिमभानु, संघटित होत परस्पर।।

विद्यापति की गीत पद्धति पर तुलसीदास ने भी गीतावली और विनयपत्रिका की रचना की है। प्रायः मधुर दृश्यों और भक्ति परक निवेदनों के भावों की अभिव्यक्ति के लिए इस प्रकार की शैली का आश्रय लिया गया है। गीतावली के विभिन्न प्रकार के मंगलाचार के गीत इसी प्रकार की शैली के द्वारा अधिक प्रभावी बन पड़े है। मनोभावों का अद्वितीय चित्रण इस शैली की प्रमुख विशेषता रही है। कौशल्या के सम्मुख भरत की आत्मग्लानि का चित्रण देखने योग्य है–

जो पै हौं मातु मते महँ ह्वैहौं।

तौ जननी जग में या मुख की कहाँ कालिमा ध्वै हौ?

क्यौं हौ आजु होत सुचि सपथनि, कौन मानि हैं साँची?

तीसरी काव्यशैली गंग आदि भाटों की कवित्त सवैया पद्वति है। तुलसीदास ने इस शैली में सानुकूल और प्रभावी शब्द योजना के द्वारा अनेक प्रकार की रचनाएँ लिखीं हैं जिनमें 'कवितावली' सर्वाधिक उत्कृष्ट रचना है। 'सवैया' पद्धति में अत्यन्त सुन्दर चित्रों का अंकन तुलसीदास ने कवितावली में किया है– वनवास के लिए जाते हुए राम का वर्णन देखिए–

कीर के कागर ज्यों नृपचीर बिभूषन उप्पम अंगनि पाई।

औध तजी मगबास के रुख ज्यौ साथ के पंथ ज्यौं लोग लुगाई।

संग सुबन्धु पुनीत प्रिया जनु धर्म क्रिया धरि देह सुहाई

राजिव लोचन रामु चले तजि बापु को राजु बटाउ की नाईं।।

दोहा शैली में तुलसीदास ने 'दोहावली' की रचना की है और रामचरितमानस में भी कतिपय दोहों का सुन्दरतम प्रयोग किया है। दोहों में प्रायः नीति और ज्ञान सम्बन्धी मतों का

निरुपण किया गया है। दोहा शैली में ही तुलसीदास ने अपने एक मात्र ज्योतिष ग्रन्थ 'रामाज्ञया प्रश्नावली' की रचना भी की है। कुछ सुन्दर दोहे देखिए–

कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमि दाम।

तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहिं राम।।

बरसत हरसत लोग सब करसत लखै न कोय।

तुलसी प्रजा सुभाग तें भूप भानु सों होय।।

पाँचवी सर्वप्रसिद्ध दोहा– चौपाई शैली की 'प्रबन्धकाव्य पद्धति' जिसमें तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' की रचना की। दोहा चौपाई शैली में रामकथा को अत्यन्त सरस और सुग्राही रूप में प्रस्तुत करने में वे सफल हुए। तुलसीदास की कविता का चरमोत्कर्ष इसी काव्य शैली में प्रकट हुआ है। कुछ चौपाइयाँ देखिए–

सुकृति शंभुतन बिमल बिभूती।

मंजुल मंगल मोद प्रसूती।

जन मन मंजु मुकुर मल हरनी।

किऐ तिलक गुन गन बस करनी।।

5.8 तुलसी की सौन्दर्यदृष्टि

जीवन के सुन्दर और रमणीय पक्षों का बखूबी चित्रण तुलसीदास ने किया है। जीवन का प्रकृति के साथ संबंध जोड़ते हुए उन्होंने कविता में चारुता लाने की सुन्दर योजना की है। तुलसीदास सौन्दर्य के बाह्य पक्ष पर ध्यान न देकर उसे अभ्यन्तरिक दृष्टि से देखने और समझने के हिमायती रहे हैं। उनकी कविता रमणीयता के लौकिक और लोकोत्तर दोनों रूपों की उद्‌भावना करने में प्रवीण रही है। तुलसीदास काव्य का शिल्प जीवन और प्रकृति के सुन्दर पक्षों का आधार लेकर तैयार करते हैं। तुलसीदास ने रामचरितमानस में व्यक्ति, प्रकृति और दृश्यों का सुन्दर चित्रण किया है। इनमें से प्रथम पात्रों के सौन्दर्य पर बात करते हैं। सीता के सुन्दर रूप का चित्रण प्रथमतया जनकपुर में किया गया है। तुलसीदास की सौन्दर्य योजना कितनी उत्कृष्ट है जिसमें कि उन्होंने विशेषण की विशेषता को विशेष्य पर आधृत बतलाया है। सीता का सौन्दर्य– ''सुन्दरता कहुँ सुन्दर करई। छवि गृह दीपशिखा जनु बरई।।'' उपमाओं के नवीन प्रयोगों के प्रति उनका आग्रह ही है जो कि उन्हें यह कहने को विवश करता है– ''सब उपमा कबि रहे जुठारी। केहि पटतरौं बिदेह कुमारी।।'' सौन्दर्य की आत्मगत सत्ता को प्रतिष्ठित करते हुए तुलसीदास ने बहुत सारी पंक्तियाँ लिखी है। धनुर्भंग के अवसर पर राम के स्वरूप का दर्शन भिन्न–भिन्न प्रकार के व्यक्ति भिन्न–भिन्न प्रकार से करते हैं।

''देखहिं रूप महारन धीरा। मनहु बीररसु धरें सरीरा।।

डरे कुटिल नृप प्रभुहिं निहारी। मनहुँ भयानक मूरति भारी।।

रहे असर छल छोनिप बेषा। तिन्ह प्रभु प्रगट काल सम देखा।।

पुरबासिन्ह देखें दोउ भाई। नरभूषन लोचन सुखदाई।।

यहाँ भिन्न–भिन्न व्यक्तियों द्वारा उनकी भावस्थितियों के अनुरूप राम की छवियाँ गढ़ी जाती है। और नगर की स्त्रियों को राम कैसे दिखाई देते हैं– तुलसीदास लिखते हैं–

''नारि बिलोकहिं हरषि हिय निज निज रूचि अनुरूप।

जनु सोहत सिंगार धरि मूरति परम अनूप।।''

जैसे श्रृंगार स्वयं मूर्तिमान होकर सामने उपस्थित हो जाय, जनकपुर की स्त्रियाँ इसी प्रकार से श्रीराम का दर्शन करती है। तुलसी दास सौन्दर्य की अन्तर्वस्तु तथा उसकी यथार्थ प्रतिष्ठा, मानसिक धरातल पर ही प्रतिष्ठित मानने के हिमायती हैं। वचन की सुन्दरता, कर्म की सुन्दरता, आचार की, व्यवहार की और विचार की सुन्दरता का पक्ष रखते हुए कवि ने इन्हें राम के जीवन सौन्दर्य से आबद्ध किया है। तुलसीदास की सौन्दर्य दृष्टि की व्यापकता उन्हें समस्त संसार के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष सौन्दर्य का साक्षात्कार करके उसे अभिव्यक्ति देने का कौशल प्रदान करती है। 'रामचरितमानस' में स्थान सौन्दर्य, प्रकृति सौन्दर्य, दृश्य और भाव सौन्दर्य के अनेकों स्थल आते हैं जहाँ कवि ने अपनी उत्कृष्ट काव्य दक्षता का परिचय दिया है। राम की जन्मभूमि के सौन्दर्य की प्रशंसा स्वयं राम के मुख से तुलसीदास ने करवाई है। राम कहते हैं–

''जन्मभूमि मम पुरी सुहावनि। उत्तरदिसि बह सरजू पावनि।।

दरस परस मज्जन अरु पाना। हरहिं पाप कह बेद पुराना।।''

अयोध्या के ही समान रावण की लंका का भी सौन्दर्य चित्रण उन्होंने किया है। सुन्दर काण्ड में हनुमान के नगर प्रवेश के समय तुलसीदास ने लंका की सुन्दरता का अद्वितीय वर्णन किया है–

''कनक कोट बिचित्र मनि कृत सुन्दरायतना घना।

चउहट्ट हट्ट सुबट्ट बीथीं चारू पुर बहु बिधि बना।।''

इस प्रकार के अनेकानेक उदाहरणों से तुलसीदास के सौन्दर्य चिन्तन को समझने का व्यापक आधार मिलता है।

5.9 तुलसी की काव्यभाषा

तुलसीदास की सबसे विशिष्ट, सबसे अच्छी और सबसे सुन्दर उपलब्धि उनकी काव्यभाषा है। तुलसीदास ने अपने समय के जनसमाजों की अनेकानेक भाषाओं का अवगाहन करते हुए, उनके सम्यक और यथानुकूल प्रयोगों के द्वारा अपनी काव्यवाणी को अत्यन्त प्रभावशाली बनाया। यह सर्वमान्य बात है कि किसी भी कवि की सर्वोच्च सिद्धि उसके काव्य की व्यापक संप्रेषणीयता में निहित होती है। तुलसी की भाषा अपनी जनधर्मी आकांक्षाओं के लक्ष्य को लेकर चलती है और संप्रेषण प्रवणता में सभी प्राचीन काव्य प्रतिमानों को तोड़ती है। अपने समय में प्रचलित दो प्रमुख काव्य भाषाओं अवधी और ब्रजभाषा में तुलसी ने रामकाव्य की रचना की।

कविता में भाषाई प्रयोग को लेकर वे अपने किस्म के एक उदारवादी कवि थे जो अभिव्यक्ति की प्रभावशीलता के लिए किसी भी प्रकार के सूक्ष्माति सूक्ष्म भाषाई अन्तर को पहचानने और उसका यथापयुक्त प्रयोग करने में चूकते नहीं थे। रामचन्द्र शुक्ल ने उनके रामचरितमानस की भाषा 'अवधी' बतलायी है जिसमें पूरबी और पछाँही का मेल है। 'रामचरितमानस' लोकजीवन का सबसे बड़ा प्रबन्धकाव्य है। अवधी एक ऐसी भाषा है जिसका विकास गंगा यमुना के उत्तरवर्ती मैदानी भागों में हुआ। इन क्षेत्रों में जीवन की सभी आवश्यकताओं की आपूर्ति के प्राकृतिक संसाधन उपलब्ध रहे हैं। अतः भाषा की सर्वोत्कृष्ट

प्रभावशीलता अवधी में व्यापक रूप से सन्निहित है। तुलसीदास ने अवधी भाषा के चलते और मुहावरेदार प्रयोगों से अपनी काव्य भाषा को अलंकृत किया। तुलसीदास ने अपनी भाषिक क्रियाओं के सूक्ष्मातिसूक्ष्म अन्तर को समझकर बड़ी सावधानी और सुन्दरता से उसका प्रयोग किया है। उदाहरण के लिए 'देखना' क्रिया को ले लीजिए। रामचरितमानस में केवल इस क्रिया के 12 से अधिक पर्यायवाची शब्दों का प्रयोग हुआ है और कहीं भी एक ही प्रसंग में किसी दूसरे शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। जैसे–निरखे, देखे, बिलोके, तरेरे, चितये, पेखे, अवलोके आदि। यह कवि की अत्यन्त सूक्ष्म और पारखी दृष्टि से ही सम्भव हो सका है। तुलसी दास ने विभिन्न स्थानों पर निवास करने वाले व्यक्तियों के मुख से उनकी क्षेत्रीय भाषा में संवादों का उच्चारण करवाया है। अवध के लोग अवधी के ठेठ शब्दों का धड़ल्ले से प्रयोग करते हैं तो कहीं चित्रकूट के लोग बुंदेलखण्डी के शब्दों का, काशी का जन समाज भोजपुरी के शब्दों का प्रयोग करता है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनकी भाषिक सघनता पर चर्चा करते हुए कहा है कि– ''गोस्वामी जी के वाक्यों में कहीं भी शैथिल्य नहीं है, एक भी शब्द ऐसा नहीं है जो पादपूत्यर्थ रखा हुआ कहा जा सके। ऐसी गठी हुयी भाषा किसी की नहीं है।'' इसे समझने के लिए एक उदाहरण देना पर्याप्त होगा–

''परुष वचन अति दुसह स्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।

बिगत मान सम सीतल मन पर गुन, नहिं दोष, कहौंगो।''

ऊपर दो पंक्तियों में पूरी समस्या उसका प्रभाव और प्रभावों का अपशमन सारी बातों को सुन्दर शब्दावली में पिरोकर एक ही लाइन में बाँध दिया गया है। भाषा के सघन और सहज प्रयोग के उदाहरण तुलसीदास को छोड़कर अन्यत्र दुर्लभ हैं। 'कवितावली' की रचना करने तक तुलसीदास की भाषा में साहित्यिकता का चरम परिलक्षित होने लगा था। अन्त्यानुप्रास के साथ शब्द माधुर्य और पद सौष्ठव कवितावली में दिखायी देता है।

''राजत राम कुरंग के संग निषंगु कसे कटि सों पटु बाँधे।।''

तुलसी की ऐसी रचनाएँ जिनमें काव्यभाषा के रूप में 'ब्रजभाषा' के सुन्दर प्रयोग मिलते हैं, मुख्यतः तीन है– कवितावली, गीतावली और विनयपत्रिका। ब्रजभाषा के प्रचलन में प्रयुक्त होने वाले रूप और प्रायः ग्राम्य संस्कृति से जुड़ी हुयी शब्दावली में चारुता आयी है। तुलसी ने यथा संभव इसका प्रयोग भी किया है। ब्रजभाषा पर उनका अधिकार सूरदास के समान न था, यह आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी मानते हैं लेकिन प्रासंगिक प्रयोग की दृष्टि से ब्रजभाषा की रचनाएँ अपना विशिष्ट स्थान रखती है। बाल लीला के पदों में तथा विनय पत्रिका के भक्ति पदों में 'ब्रजभाषा' का सुन्दर प्रयोग दिखलाई देता है। एक प्रसिद्ध भक्ति पद का उदाहरण देना पर्याप्त होगा।

''कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।

श्री रघुनाथ–कृपालु–कृपा तें संत सुभाव गहौंगो।

जथालाभ संतोष सदा काहू सों कछु न कहौंगो।

पर–हित–निरत निरन्तर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो।।''

ध्यान देना चाहिए कि तुलसीदास की भाषा 'ठेठ अवधी' न होकर 'संस्कारित अवधी' है। तुलसीदास को इस बात का श्रेय है कि 'लोक भाषाओं के संस्कारों में भी प्रबन्ध काव्य जैसी विराट रचना के गुण गर्भित होते हैं।' इस बात की उन्होंने सर्वप्रथम पहचान की। उनका प्रधान प्रयत्न प्रभावी अभिव्यक्ति की ओर रहा है भाषा वहाँ पर सहयोगात्मक भूमिका में है।

5.10 तुलसी का समन्वयवाद

तुलसीदास की पहचान के प्रमुख बिन्दुओं में एक है– उनकी ''समन्वयवादी दृष्टि''। समन्वय विभिन्न सामाजिक वर्गों की यथास्थितियों को समझकर तथा उनकी विभिन्न विशेषताओं को अन्तःसूत्रित करके ही किया जा सकता है। मध्यकालीन समाज में विघटनकारी शक्तियों का प्रभुत्व बढ़ रहा था। विभिन्न प्रकार के लोगों के आपसी वैमनष्य के कारण मानवता के धरातल पर प्रतिष्ठित मानुषीय संबंधों में शिथिलता आने लगी थी। विद्वानों ने इसके मूल में बहुत सारे कारण गिनाये हैं परन्तु तुलसीदास ने प्रथम बार समाज में मुख्य अन्तर्विरोध तथा गौण अन्तर्विरोधों को बारीकी से समझा और उनके प्रति जनता को सचेत करने का प्रयत्न किया। पहली बार तुलसीदास हमें बतलाते हैं कि समाज में मुख्य विरोध तो शोषक राजा और शोषित श्रमिक जनता है, अन्य सभी जातीय और धार्मिक अन्तर्विरोध उसी के उपवर्ग है अर्थात् उसी के अन्तर्गत हैं। तुलसीदास शोषक सामन्ती वर्ग के सम्मुख प्रजा का पक्ष रखते हुए जितने उग्र हैं, प्रजा के आपसी गौण अन्तविरोधों के प्रति उतने ही विनम्र क्योंकि वे जानते थे कि ये गौण सामाजिक अन्तर्विरोध जनता की शक्ति कमजोर करते हैं, उनमें आपसी वैमनष्य बढ़ाते हैं जिससे कि राज वर्ग को प्रजा का शोषण करने में सहायता मिलती है। इसलिए तुलसीदास जैसे लोकमांगल्यभावक कवि ने समाज के विभिन्न जातीय, पारिवेशिक और सांस्कृतिक अन्तर्विरोधों को समझा और उनका डटकर विरोध किया ताकि राजा सत्ता के सम्मुख प्रजा का पक्ष और अधिक मजबूत हो सके। इस कारण उन्होंने प्रजा के विभिन्न वर्गों में समन्वय कराने का प्रयास किया। विभिन्न वर्णों में समन्वय, विभिन्न जातियों में समन्वय, निर्गुण पंथी और सगुण पंथी भक्त सम्प्रदायों में समन्वय, शैव शाक्त और वैष्णव सम्प्रदायों में समन्वय, संन्यासी और गृहस्थ आश्रमों का समन्वय ये सारे तुलसीदास की समन्वयवादी चेतना के प्रमुख बिन्दु थे। जो राजा अपनी राजवृत्ति से प्रजा को पोषित करते हुए प्रजा परायण रहते हैं ऐसे राजाओं का प्रजा से समन्वय भी तुलसीदास की व्यापक समन्वयवादी चेतना का अंग है। ''सुप्रभु प्रजाहित लेहिं कर सामादिक अनुमानि।'' पहली बार भारतीय साहित्य में कोई कवि इतने अधिक वैविध्यपूर्ण समाजों के ऐक्य की बात कर सका है और इस मामले में तुलसीदास, गौतमबुद्ध और आचार्य शंकर के बाद सबसे बड़े समन्वयवादी हैं। 'रामचरितमानस' में बहुतेरी पंक्तियाँ हैं जो उनकी समन्वयवादी चेतना को स्वर प्रदान करती है।

''सगुनहिं अगुनहिं नहिं कुछ भेदा। उभय हरहिं भव सम्भव खेदा।।

शिव द्रोही मम दास कहावा। सो नर सपनेहु मोहि न भावा।।''

राम के उपासक भक्ति के आधार पर एक ही समाज के सदस्य बनते हैं जहाँ कोई छोटा नहीं, कोई बड़ा नहीं वरन् सभी समान है। तुलसीदास ने स्वयं ऐसे सभी वर्गों के व्यक्तियों की वंदना की है, इसमें मानवेतर प्राणी भी आते हैं–

''रघुपति चरन उपासक जेते। खग मृग सुरनर असुर समेते।।

बंदउँ पद सरोज सब केरे। जे बिनु काम राम के चेरे।।''

तुलसीदास का उद्देश्य ऐसे मानुषीय सम्बन्धों का विकास करना है जिनके द्वारा चिरकाल तक भारतीय जनता अपने को अमानुषीय शक्तियों के प्रति दृढ़ बना सके। भक्ति समन्वय का माध्यम है और समन्वय जनता के एकीकरण का माध्यम है। एक की सिद्धि से दूसरे की सिद्धि स्वतः हो जाती है। समन्वय के उद्देश्यों को ध्यान में रखें तो तुलसीदास के साहित्यिक अन्तर्विरोध उनके सम्मुख बौने नज़र आते हैं।

5.11 उत्तरकाण्ड का महत्व

तुलसीदास के दो प्रमुख ग्रन्थों में 'रामचरितमानस' और 'कवितावली' दोनों में उत्तरकाण्ड के अध्याय है। किसी भी ग्रन्थ का उत्तरपक्ष इस बात में विशिष्ट होता है कि उसमें कथा का उपसंहार या सारांश समाहित होता है। कथा के उत्तरपक्ष में कवि कथा की समस्त जिज्ञासाओं का उत्तर देता है, शंकाओं का समाधान प्रस्तुत करता है। 'रामचरितमानस' का उत्तरकाण्ड रामकथा के अन्त और उसके विषय में होने वाले प्रश्नों का जवाब देता है। साथ ही यहाँ तुलसीदास कथा से इतर विषयों जैसे सन्त समाज, कलियुगीन सामाजिक विसंगतियाँ और उनके प्रभावों पर विचार करते हैं। साथ ही वे यहाँ इस बात का भी परीक्षण करते हैं कि कलिकाल में रामराज्य की परिकल्पना को किन सन्दर्भों और विषयों के अन्तर्गत साकार किया जा सकता है। वे समाज में वर्णव्यवस्था को टूटता हुआ देखते हैं।

''मारग सोइ जा कहुँ जोइ भावा। पंडित सोइ जो गाल बजावा।।''

आश्रम व्यवस्था को भ्रष्ट लोगों के हाथों में जाता हुआ देखते हैं।

''तपसी धनवंत दरिद्र गृही। कलि कौतुक तात न जात कही।।''

माता पिता के प्रति उनकी संतानों का वह सम्मान भाव नहीं रह गया जिसकी कल्पना और आदर्श की प्रतिष्ठा वे रामराज्य में करते हैं। अब तो– ''सुत मानहिं मातु पिता तब लौं। अबलानन दीख नहीं जब लौं।।'' इस अराजक व्यवस्था में प्रकृति उपद्रव करती है और मनुष्य त्रास पाते हैं। ''कलि बारहिं बार दुकाल परै। बिनु अन्न दुखी बहु लोग मरै।'' विवेकी कवि यह जानता है कि जिस आदर्श व्यवस्था की कल्पना वह 'रामराज्य' के अन्तर्गत करता है, कलियुग की कुप्रभावी आबोहवा में उसकी सटीक योजना सम्भव नहीं। लेकिन कवि हताश नहीं होते प्रजा की इस स्थिति में भी उसके साथ खड़े होते हैं उसे भक्ति का, राम नाम का सम्बल देते हैं। सारे कर्माचारों का परिहार करके प्रजा को राम का अवलम्ब ग्रहण करने की सीख देते हैं।

''नहिं कल करम न भगति बिबेकू।

राम नाम अवलम्बन एकू।।

और भी–

''कलियुग केवल नाम अधारा। सुमिरि सुमिरि नर उतरहिं पारा।।''

इतनी सारी अव्यवस्थाओं में भी वह व्यक्ति को साधन हीनता और अकर्मण्यता से मुक्त करते हैं और विषमताओं को भी सुगम बनाने का संदेश देते हुए स्पष्ट घोषणा करते हैं।

''कलियुग सम जुग आन नहिं जौ नर कर बिस्वास।

गाइ राम गुन गन बिमल भव तर बिनहिं प्रयास।।''

उत्तरकाण्ड हमें यह सीख देता है कि भिन्न–भिन्न परिस्थितियों में हमें अपनी भूमिकाओं को निर्धारित करने का विवेक होना चाहिए। इतिहास के विषम कालखण्डों में भी हमें अपनी अदम्य जिजीविषा के बलपर अपनी वैचारिक दृढ़ता स्थापित करना चाहिए। सामान्य जनता जो समग्र रामचरितमानस का अनुशीलन नहीं कर सकती तुलसीदास उसके लिए लिखते हैं।

''सत पंच चौपाई मनोहर जानि जो नर उर धरै।

दारुन अविद्या पंच जनित बिकार श्री रघुबर हरै।।''

'कवितावली' का उत्तरकाण्ड तुलसी के यथार्थ वर्णन, कलि निरुपण, भक्ति के सामाजिक प्रतिस्थापन के लिए जाना जाता है। तुलसीदास की जनपक्षधरता का और उनके यथार्थवादी दृष्टिकोण का सर्वाधिक उत्कृष्ट रूप हमें यहाँ मिलता है। राम के प्रति अपनी दृढ़ भक्ति को आधार बनाकर तुलसीदास उनके सामने ही जनता के कष्टों, दुखों और अभावों का ब्यौरा प्रस्तुत करते हैं। तुलसी के पाठ में उनका सामयिक यथार्थ ढूँढ़ने वालों के लिए 'उत्तरकाण्ड' एक विश्राम स्थल है।

5.12 पाठांश

1. रामचरितमानस– गीता प्रेस, गोरखपुर

   पाठ्य अंश– अयोध्याकाण्ड दोहा संख्या–161 से 205 तक

2. रामचरित मानस– गीता प्रेस, गोरखपुर

   पाठ्य अंश : उत्तरकाण्ड दोहा संख्या 94 से 104 तक

3. कवितावली– गीता प्रेस, गोरखपुर

   पाठ्य अंश : उत्तरकाण्ड पद संख्या 1 से 30 तक

4. विनयपत्रिका– गीता प्रेस, गोरखपुर

   पाठ्य अंशः पद संख्या– 1, 5, 17, 30, 36, 41, 45, 72, 79, 85, 90, 94,100, 101, 103, 104, 105, 111, 113, 114

5.13 मुख्य शब्दावली

बाह्याभ्यंत– बाहर और भीतर दोनों

सरणियों– धाराएँ

सांगोपांग– वस्तु (Content) से जुड़ी सभी बातों के साथ,

जीवनानुभूति– जीवन में अनुभव और व्यवहार से उत्पन्न सच्चाई

पयादें– पैर से

जमनहिं– यवन

लोकमंगल– संसार (समाज) का कल्याण

लोकानुरंजक– लोक (संसार) को प्रेम द्वारा प्रसन्न रखने वाला

कलिकाल– चार युग माने गये हैं : सतयुग, द्वापर, त्रेता, कलयुग इनमें से कलयुग को ही कलिकाल कहा जाता है।

कुचालि– गलत नीतियों का पालन करना

दसकंध– रावण,

कीर–तोता

अमानुषीय– अमानवीय

आबोहवा– परिवेश

अनुशीलन– अध्ययन

5.14 'अपनी प्रगति जाँचिए' के उत्तर

1. मध्यकाल की सामाजिक सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर चर्चा– परिचर्चा करें।
2. भारतीय जनमानस में रामचरितमानस की उपस्थिति पर एक संवादगोष्ठी का आयोजन करें।
3. गोस्वामी तुलसीदास की काव्यभाषा में किन–किन भाषाओं का संयोग रहा, इस पर बातचीत करें।
4. तुलसी के राम में निहित लोकमांगल्य के भाव और उसकी युगीन प्रासंगिकता पर विचार करें।
5. उत्तरकाण्ड में यथार्थ वर्णन की युग सापेक्ष व्याख्या पर मित्रों के साथ विचार–विमर्श करें।
6. तुलसीदास ने किन पाँच शैलियों को अपनाया है? इस पर विचार–विमर्श करें।
7. तुलसीदास की छंद योजना एवं उनके काव्यरूपों पर एक लेख लिखें।

5.15 अभ्यास हेतु प्रश्न

1. लोकबोध के महत्व को समझाते हुए तुलसी साहित्य के सामरिक सांस्कृतिक आयामों पर प्रकाश डालें।
2. रामचरितमानस में वर्णित लोकनायक राम के लोक रक्षक चरित्र की व्याख्या करते हुए भारतीय मानस पर उसके प्रभावों की विवेचना कीजिए।
3. रामचरितमानस के स्त्री पात्रों का सन्दर्भ देते हुए तुलसीदास की स्त्री संबंधी अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
4. भारतीय समाज के जीवन यथार्थ और तुलसी साहित्य के समन्वयवादी मूल्यों पर प्रकाश डालें।
5. गोस्वामी तुलसीदास की सौन्दर्यदृष्टि और काव्यभाषा की विवेचना कीजिए।
6. तुलसी की प्रगतिशील चेतना पर प्रकाश डालिए।
7. कवितावली के उत्तरकाण्ड में वर्णित यथार्थ वर्णन एवं तदयुगीन समाज के अन्तर्संबंधों को विवेचित कीजिए।
8. भक्ति को एक सामाजिक सम्बल के रूप में तुलसीदास ने किस प्रकार ग्रहण किया? विनयपत्रिका का सन्दर्भ लेते हुए इस कथन की विवेचना कीजिए।
9. तुलसीदास की सगुण और निर्गुण संबंधी अवधारणाओं की व्याख्या कीजिए।

5.16 आप ये भी पढ़ सकते हैं

1. गोस्वामी तुलसीदास– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी।

2. हिन्दी साहित्य का इतिहास– आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी।

3. हिन्दी जाति का साहित्य– डॉ. रामविलास शर्मा, राजपाल एण्ड सन्स, दिल्ली

4. तुलसी–साहित्य का आधुनिक संदर्भ– डॉ. हरीश कुमार शर्मा, साहित्य सहकार प्रकाशन, दिल्ली

5. तुलसी के हिय हेरि– विष्णुकांत शास्त्री, लोकभारती प्रकाशन, दिल्ली

6. विवादों से संवाद– प्रो. विद्योत्तमा मिश्र, संजय बुक सेन्टर, वाराणसी

7. परंपरा का मूल्यांकन– डॉ. रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली

8. तुलसीदास : भक्ति प्रबंध का नया उत्कर्ष– विद्या निवास मिश्र, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली

9. जन–जन के कवि तुलसीदास– योगेन्द्र प्रताप सिंह, वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली

Institute of Distance Education

Rajiv Gandhi University

A Central University

Rono Hills, Arunachal Pradesh

Contact us:

+91-98638 68890 | Ide Rgu | Ide Rgu | helpdesk.ide@rgu.ac.in

Institute of Distance Education
Rajiv Gandhi University

A Central University

Rono Hills, Arunachal Pradesh

Contact us:

+91-98638 68890 | Ide Rgu | Ide Rgu | helpdesk.ide@rgu.ac.in